

मतादर्श

सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

निदेशक, एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज, दिल्ली

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी

दिल्ली-110089

वर्ष : 10 अंक : 1 □ जनवरी-मार्च, 2017

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक

डॉ० गिरीश मिश्र

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

संपादक मंडल

डॉ० आर. एन. कुंअर

डॉ० बामेश्वर सिंह

डॉ० विद्या भूषण श्रीवास्तव

डॉ० रवीन्द्रनाथ राय

डॉ० अमरकान्त सिंह

डॉ० लक्ष्मेश्वर ठाकुर

साज-सज्जा

पंकज झा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,

दिल्ली-110091

फोन : 011-22753916, 47541851, 64683387

e-mail : editorialindia@gmail.com

मूल्य : ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

The government's demonetization move has led to widespread adoption of online payment and is expected to have a positive long term impact on the economy, according to a report. The report titled 'India: Transforming through radical reforms' by Assocham and EY observed that improved governance, favourable conditions to conduct business, transparency in government procedures and responsive policy making with an immediate focus on effective implementation of reforms will continue to evolve India into a preferred destination for foreign investment.

"While the pace of India's radical reforms may vary, the direction is firmly set toward higher growth. The economy will continue to benefit from significant progress in trade, proactive policy actions and robust external buffers," the report highlighted. India is set on a growth trajectory that promises all-round development, economic welfare and strong macroeconomic indicators. All these radical reforms are acting as enablers for boosting the domestic environment which in turn is improving the country's stature globally, it said. However, it said that the government needs to continuously invest in improving the ease of doing business environment, develop sound infrastructure and ensure availability of trained workforce. According to the report, combining demonetization with Digital India and Pradhan Mantri Jan Dhan Yojana will ensure transparency in financial transactions.

"Demonetization has led to widespread adoption of online payment, and digital wallet options have suddenly gained traction. Overall, the JAM Trinity initiative will spur the growth of payment service providers and telecommunication, ICT and other technology-related sectors, paving the way for digitalisation of the economy," the report pointed out.

Moreover, it said, the move is expected to have a positive long term impact on the economy through better tax compliance, increase in the tax to GDP ratio and higher tax collections. The ceasing of major proportion of unaccounted currency would reduce the government liabilities and add to its finances. Besides, the surplus liquidity in the banking system will lower borrowing costs and increase the access to credit. It also termed demonetization as a major step aimed at strengthening India's proposition of becoming a transparent economy by curbing black money, terror financing and fake currency circulating in the economy.

—Editor

इस अंक में

मैथिली

मैथिली लोक-साहित्य: एक अध्ययन—डॉ० हीरा मंडल 7

हिन्दी

समर्पण—डॉ० रेणु कुमारी 11

वंशीधर शुक्ल के काव्य में ग्रामीण संस्कृति एवं सौन्दर्य का चित्रण—डॉ० हिमांशु कुमार 14

“आनन्द का प्रकाश” भारतीय संस्कृति के परिपेक्ष्य में—डॉ० सुभद्रा झा 21

हिन्दी कविता में समसामयिक बोध—डॉ० अलका प्रकाश 24

स्त्री-विमर्श की पाश्चात्य अवधारणा—डॉ० रंजना कुमारी 27

दर्शनशास्त्र

कांट के नैतिक दर्शन में नैतिक आदेश और शुभ संकल्प की सम्बद्धता
—संजीव कुमार सुधान्शु 32

समाजिक न्याय की अवधारणा—स्नेहलता 35

राजनीति विज्ञान

पूर्णिया जिले में बीस सूत्री कार्यक्रम कार्यान्वयन में सरकार की नीति एवं परिणाम
—मो. नौराद 40

संवैधानिक उपबंध और नारी सशक्तिकरण के बढ़ते कदम—स्मृति कुमारी 44

मोदी सरकार की विदेश नीति के विविध आयाम—रकेश कुमार 50

इतिहास

औपनिवेशिक भारत में महिला-कानूनों की पृष्ठभूमि—राजेश कुमार प्रज्जवल	56
मौर्योत्तर काल में जातियों का विकास—सुबोध कुमार गुप्ता	61
चोल शासन में राजस्व व्यवस्था—डॉ० ममता पांडेय	64
प्राचीन भारतीय समाज एवं शूद्र—डॉ० अमरकांत सिंह	70

पत्रकारिता

पत्रिकाओं के लेआउट एवं डिजाइन के सैद्धांतिक आयामों का अध्ययन —अनिल कुमार निगम; मनोज कुमार सिंह	73
---	----

PHILOSOPHY

Man and Nature in Jainism—Pradeep Kumar Tiwari	79
Climate Change: A Philosophical Analysis—Abhimanyu Kumar	88

ECONOMICS

Child Labour: Problems and Prospect in Bihar—Vijay Kumar	91
--	----

COMMERCE

Accounting for Responsibility in an Organization—Dr. Nasir Ahmad	98
Marginal Costing and Break-even Analysis—Dr. Kapil Harit	102

POLITICAL SCIENCE

Journey of Nuclear Suppliers Group And India's Membership Bid —Dr. Md. Mushfique Alam	108
Ideology and Politics in India—Dr. Sudhir Kumar Singh	118

MANAGEMENT

History of Life Insurance in India—*Rajeev Gupta* 122

SOCIOLOGY

Industrialization and Development: Discontentment among Tribals in Orissa
—*Dr. Prem Lata* 135

HISTORY

Bhakti Andolan and Women—*Dr Bindu* 140

GEOGRAPHY

Socio-economic Changes Among the Pasies, A Geographical Study
of Saran Distric—*Ajit Kumar* 146

मैथिली लोक-साहित्य: एक अध्ययन

डॉ० हीरा मंडल

स्नातकोत्तर मैथिली विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

लोक साहित्यक सर्वमान्य परिभाषा एखनहुँ धरि नहिं कएल गेल अछि। अधिकांश विद्वानक मन छन्हि जे- शास्त्र ओ पद्धतिसँ विहीन एवं ग्राम साहित्य मात्र लोक साहित्य थिक। किछु विद्वानक मन्तव्य अछि जे- लोकक तात्पर्य होइत अछि 'जन समूह'। ई जन समूह सुसंस्कृत लोकक अपेक्षा बेसी सरल ओ अकृत्रिम जीवन बितबैत छथि, हुनकहिं लोकनिक द्वारा निर्मित ई लोक साहित्य थिक। एहि लोक साहित्यकेँ पण्डित सामज उपेक्षा करैत रहल अछि, परञ्च लोक साहित्य जन-समाजक लोकानुरंजनक साहित्य थिक। ई एक कण्ठसँ दोसर कण्ठमें स्थानान्तरित होईत आबि रहल अछि।

दोसर शब्दे कोनहुँ युगक शिष्ट साहित्यसँ भिन्न जे रचना होइछ से ओहि युगक लोक साहित्य कहबैछ। परन्तु इहो बात सत्य जे पण्डित वर्ग द्वारा समादृत भेलाक पश्चात् आजुक लोक साहित्य काल्हिक शिष्ट साहित्यक अन्तर्गत आबि जाइत अछि जेना ऋतुगीत, व्यवहारगीत महेशवानी नचारी आदि लोक साहित्यक अन्तर्गत विकसीत भेल, मुदा ई सब आब शिष्ट साहित्यक अन्तर्गत परिगणित होइत अछि। एतबे नहिं पण्डित लोकनि से हो ओहि विषय वस्तुक रचना कय मैथिली साहित्यक भण्डारकेँ भरि रहलाह अछि। मणिपद्माजी, महेन्द्र नारायण राम, डॉ० राजा राम प्रसाद, पं० चन्द्रनाथ मिश्र, अमर महेन्द्र मलांगिया आदि दर्जनो विद्वान मैथिली साहित्यकेँ समृद्ध कयलाह अछि।

लोक साहित्यक उदभव कालक प्रसंग में निश्चित रूपें नहिं कहल जाए सकैल अछि, परञ्च किछु रचना 13म् - 14म् शताब्दी में एतेक प्रचलित छल जे कविशेखर ज्योतिरीश्वर ठाकुर अपन 'वर्ण रत्नाकर' में तकर उल्लेख कएने छथि जेना - विरहा, चाँचड़ि, लोरिक नाच, लगनी चौपाई आदि।

विधाक आधार पर लोक साहित्यकेँ (7) सात भाग में विभाजित कएल गेल अछि:-

(1) लोकगीत:- लोकनिर्मित एवं लोक-मध्य प्रचलित गीतके लोकगीत कहल जाइत अछि। एकर मौखिक प्रचार होइत आएल अछि। शास्त्रीय गीत जकाँ लोकगीतक भिन्न-भिन्न गीतकार आओर स्वरकार नहिं होइत अछि। लोक गीतक भाषा सरल सुबोध एवं प्रवाहमय रहैत अछि। एहि गीत में प्रणय निवेदन, अभिसार, कुमारिक प्रेमव्यथा, विरहक मार्मिकता, मिलनक आनन्द आदिक सहज वर्णन अछि। एतबे नहिं तन्त्र-मन्त्र एवं प्राकृतिक सुष्माक शब्दांकन आकर्षक अछि।

मैथिली लोकगीत के विभिन्न श्रेणी में निम्न प्रकारे बाँटल गेल अछि-

(क) संस्कार गीत (ख) देवी देवताक गीत (ग) ऋतुगीत (घ) व्रत-उपवास ओ उत्सवक गीत (ङ) श्रम सम्बन्धी गीत एवं (च) शिशुगीत

व्रत-उपवास ओ सामयिक उत्सवक लोकगीत जे मिथिला में बहुत प्रसिद्ध अछि, द्रष्टव्य:-

समा चकेबाक गीत

“गाम के अधिकारी तौंहे फल्ला भइया हे,
भइया हाथ दस पोखरि खुना दिय
की चम्पा फूल लगा दिय हे।
भइया लोढ़ल फूल भउजो हार गांथू हे

आहे सेहो हार परिरधु फला बहिनो
की सामा चकेबा खेल करू हे।
कहमा बझाएब वन तितिर हे
आहे कहमा बझाएब राजा हंस
की सामा चकेबा खेल करू हे।”

(2) लोक गाथा:- लोक गाथा लोक साहित्यक एकटा प्रमुख अंग थिक, एकगोट सशक्त विधा थिक। “दीर्घ आख्यान पर आधारित गयात्मक कथाके लोक गाथा कहल जाइत अछि।² ई आख्यान ऐतिहासिको भऽ सकैछ अथवा ओहिमे कल्पनाक मिश्रण सेहो भऽ सकैछ। कथामें धारावाहिकता रहित हूँ एवं महाकाव्यक निकटक वस्तु होइत हूँ लोक गाथाके महाकाव्यक श्रेणी में राखलो जाऽ सकैल अथवा नहियों राख जाऽ सकैछ।

लोक गाथा अंग्रेजीक ‘वैलेड’क रूपान्तरण थिक। श्री जी० एल कितरेजक अनुसार- वैलेड (लोक गाथा) गीत कथा व कथात्मक गीत थिक।³ श्री फ्रेंक सिजविकक अनुसार ‘वैलेड’ (लोक गाथा) सरल वर्णात्मक गीत थिक।⁴

लोक गाथा के ‘महराय’ सेहो कहल जाइत अछि। एकर पद्य रेघाकऽ गाओल जाइत अछि। गद्य से हो लय धर्मिता पर आधारित अछि। एकरा मृदंग, झालि करताल आदि वाद्ययंत्र संग दैत अछि। लोकगाथा में कोनो एक कथा-सुत्र में दोसरो कथा समाहित रहैत अछि। मुख्य पात्रक लगपास किछु सहपात्र रहैत अछि। एहिमे एकटा धुन नहि होइत अछि, अनेको प्रकारक धुन लोकगाथा के रोचक आ मधुर बनबैत अछि। एहि में प्रायः सभ रसक परिपाक होइत अछि। हास्य-व्यंग्य, प्रेम-विरह, करुण, शांत, भयानक आदि प्रभावकारी चित्रण आन विधामे नाहिपाओल जाइछ।

एखन धरि (29) उनतीस गोट लोकगाथा प्रकाश में आएल अछि। डॉ० जयकान्त मिश्र- Introduction to the Folk Literature of Maithili (1950) में लोरिक, सलहेस, दीनाभद्री एवं कमलामैयाक गाथाक चर्चा कयने छथि। डॉ० ब्रजकिशोर वर्मा ‘मणिपद्य’ (8) आठ गोट लोकगाथाक चर्चा कयले छथि। लोरिक, सलहेस, नैका बनिजारा, दीनाभद्री, दुलरा दयाल, अनंग कुसुमा, राय रणपाल आओर लवहरि कुशहरि।

‘कारिख पजियार’ लोकगाथा एकटा अवतरण सुनल जाय-

जनु कानु के बुढ़ी माइ जनुखी जुगो।
हमरा लिखल गे अम्मा केदली वन-वास।।
हम जाइ छी छोड़ने गे अम्मा तुलसी केर गाछ।
नित उठि करिहें गे मैया शैरा नदी असलान।।
तुलसी में ढारिहें गे मैया जल दुनू सांझ।
नित दिन तुलसी गे मैया भयतो अंशधार।।
जलक बदला गे मैया बहतो रक्त धार।
ताहि दिन अन्हिगे मैया ज्योतिष लेल मरना।⁵

(3) लोक कथा:- लोक कथा मौखिक रूपें एक युगसँ दोसर युग धरि प्रवाहित होइत आबि रहल अछि। रामलोचन ठाकुरक अनुसार- “साधारण लोकक जीवनक संग्रामक सहयात्री सहयोगी,

चिड़ै-चुनमुन्नी, जन्तु-जानवरक चर्चा एहि कथा सममे अछि। एकर अतिरिक्त देव-पितर, राजा-महाराजक चर्चा सेहो लोकोन्मुखी अछि।”⁶

मिथिला में प्रसिद्ध लोककथा अछि- फुहरी कथा, मीलारे कथा, हिरामणि कथा, हंसराज-वंशराज कथा, लाल-हीरा कथा आदि।

- श्रीमती अणिमा सिंहक अनुसार मुख्यतः चारि प्रकारक लोक कथा मैथिली में उपलब्ध अछि-
- (क) रूप कथा-एकर अर्न्तगत अलौकिक वस्तु जेना- देवी-देवता, भूत-प्रेत आदिक चर्चा होइछ।
 - (ख) हास्य कथा-हास्य रस पर आधारित, जेना- गोनू झाक कथा।
 - (ग) व्रत कथा-एहिमे देवी देवताक महात्म्यक रोचक वर्णन अछि, जेना- जितियाक कथा, सपता-विपताक कथा आदि।
 - (घ) नीति कथा- ई कथा सम-उपदेशात्मक ओ पंचतन्त्र पर आधारित अछि।

(4) लोक नाट्य:- मिथिलाक लोक नाट्य मिथिलाक सांस्कृतिक चेतनाक उपलब्धि थिक। जे समाजक निम्न वर्गके प्राणवन्त बनौने रहल। एकरा माध्यमे लोक जीवनक दृश्य हमरा समक्ष अबैत रहल। सम्प्रति (4) चारि प्रकारक लोक नाट्यक प्रचलन अछि:-

- (क) भक्ति भावाश्रित-एकर अर्न्तगत रामलीला, शिवलीला, कृष्णलीला आदि अबैछ।
- (ख) प्रहसनात्मक नाट्य- विपदा अपन रंग-विरंगक क्रिया-कलाप से लोकके खुब हँसबैछ।
- (ग) प्रेमाख्यान मूलक लोक नाट्य- दाम्पत्य जीवनक उद्दाम प्रेम-विलासक अभिव्यक्ति रहैछ, जेना- जट-जटीन लोक नृत्यक किछु अंश द्रष्टव्य-
“जट- नविके चलिहे गे जटिनियाँ निवकें चलिहेंगे।
जटिना नवतै काँच कचरिया तहिना नविहेंगे।।
जटीन- नहिये नवबौ रे जटवा नहिये नवबौ रे।
हमतँ बाबा के दुलारू धीया तनिके चलबौरे।।”

(घ) विविध विषयक लोक नाट्य-एकर अर्न्तगत सलहेस, विहुला, पमरिया, लोरिक, कुमार वृजभान आदि नाट्य अबैछ।

(5) बुझौअलि:- ई दैनिक जीवनसँ सम्बद्ध अछि। शिष्ट समाज सेहो बुझौअलिक महत्वके स्वीकार कएने छथि। वैदिक यज्ञ आदि में बुझौअलि पुछबाक परिपाटी छल। महाभारतक वक युधिष्ठिर संवाद बुझौअलिक उदारहण थिक। एतवे नहिं विद्यापतिक पहेलिकाक आधार बुझौअलि अछि। प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं मनोरंजनक साधन होयबाक कारणे एकर महत्व अधिक अछि। एक-दू गोट बुझौअलि द्रष्टव्य-

- (क) एक चिड़िया ऐसनी,
खुट्टा पर बैसनी,
मुट्ठी-मुट्ठी चाउर चिबाबै,
से चिड़ैया कैसनी?..... जाँत।

(ख) एगो छौंड़ीके कसल-कसल बाँहि?.....मकई।

(6) लोकोक्ति (फकड़ा):- लोकोक्ति वाणीक श्रृंगार थिक। भाषाक कलेबरमे प्राणक सञ्चार थिक। मार्मिक रीतिसँ श्रोताके प्रभावित करबाक हेतु लोकोक्ति अचूक अस्त्र थिक। ईसा मसीह एवं

गौतम बुद्ध अपन उपदेशमे एकर प्रयोग कयने छथि। महान दार्शनिक अरस्तु सेहो सर्वप्रथम एहि अनमोल रत्नक संग्रहमे संलग्न भेल छलाह। देखल जाय मिथिलामें प्रचलित किछु लोकोक्ति-

- (क) जब धोबी पर धोबी बसे
तब कपड़ा पर साबून पड़े।
(ख) नहिरा जो बेटा ससुरा जो
बहियां डोला बेटा कतहु खो।

(7) वचन:- वचन लोक साहित्यक एकटा प्रमुख विधा थिक, कारण गृहस्थ एवं ज्योतिषी लोकनि अपन कार्य-क्रमक निर्धारण एकरे अनुभव पर करैत छथि। एकरा सूक्ति सेहो कहल जाइत अछि। वचनक निर्माताक परिचय अज्ञात अछि, परञ्च वचनक अन्तर्गत डाक, धाध एवं भड्डरीक नाम जोड़ल अछि। किसानक मुखसँ सुनल किछु वचन द्रष्टव्य-

- (क) शुक्र दिनकेर बादरी रहे सनीचर छाया।
कहे धाध सुनू धाधनी बिनु बरसे नहिं जाय।।
(ख) जौं पुरवैय पुरवा बहय,
सुखलो नदियामे नाव बहबय।

संक्षेपमे इएह कहल जाए सकैछ जे लोक साहित्यक निर्माण जनमनोरंजनक हेतु भेल, संगहि जनजीवनक उपकारी विषयक रूपमे सेहो भेल। जय-पराजय, प्रेम-वियोग, सुख-दुख, राग-द्वेष, हास-उल्लास, रीति-रीवाज, व्रत-उपवास, शोषण-उत्पीड़न, सम्पन्नता-विपन्नता, मान-अपमान आदिक सजीव चित्र एहिमे भेटैत अछि, जे अत्यधिक उपदेशात्मक अछि।

सन्दर्भ

1. पावनि तिहार-श्रीमती सीता मिश्र, पृ. सं.-136
2. मैथिली साहित्यक इतिहास-श्रीश प्रकाशन, पृ. सं.-16
3. मैथिली लोक महागाथा कारिख पजियार-हीरा प्रकाशन, खुटौना, पृ. सं.-25
4. ओल्ड बैलेडस ले. फ्रेंक सिजविक भूमिका, पृ. सं.-31
5. कारिख लोकगाथा-डॉ. महेन्द्र ना. राम पृ. सं.-30
6. मैथिली लोककथा-रामचरण ठाकुर, अरूणोदय प्रकाशन
7. मैथिली साहित्यक इतिहास-दुर्गानाथ झा श्रीश, पृ. सं.-47

समर्पण

डॉ० रेणु कुमारी

जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

आचार्य शिवपूजन सहाय की जो बात सबको प्रभावित करती है-वो है उनका हिन्दी के प्रति जीवन समर्पण। हिन्दी के बहुविध विकास और उसे अपने पाँवों पर खड़ा करने के लिए उन्होंने अपनी रचनात्मक लेखन और प्रतिभा की परवाह न करते हुए अपना सारा जीवन लगा दिया। उनका अपना जीवन मार्मिक दुःखों से गुजरा था जिसकी व्यथा उनके संस्मरणों से प्रमाणित होती है। वह नवजागरण काल की अंतिम कतार के हिन्दी लेखक थे, जिनको स्वाधीनता संघर्ष के साथ डेढ़ दशक का आजाद भारत भी मिला था। गाँवों और ग्रामीण संस्कृति की उन्हें गहरी परख थी और यह अकारण नहीं कि उनके साहित्य का काफी महत्वपूर्ण और बड़ा हिस्सा गाँवों से जुड़ा हुआ है। खासकर गाँवों की अज्ञानता, निरक्षरता, पिछड़ापन और बदहाली पर उन्होंने बड़े ही मार्मिक लेख लिखे हैं। 'ग्राम सुधार' और अन्नपूर्णा के 'मन्दिर' में उनकी गाँव संबंधी ऐसी पुस्तिकाएँ हैं जो गाँधीवादी विचारधारा के आदर्श परिवर्तन का व्यावहारिक ढाँचा सामने रखती हैं। इसलिए वे हिन्दी में गाँधी के अग्रणी वारिस थे।

शिवपूजन जी बेहद परंपरावादी अपने जीवन और व्यवहार से थे, पूजा-पाठ, अध्यात्म और आस्तिकतावाले। पारंपरिक रीति-रिवाजों का वे अक्षरशः पालन करनेवाले थे। एकबार अपने गाँव के किसी सहभोज में ब्राह्मणों की पंगत में भूलवश बैठ गये थे। उनके पुरोहित पक्ष से एतराज का स्वर उठा ही था कि वे क्षमा माँगते हुए अलग हो गये। जीवन व्यवहार में परम्पराभंजन उनका स्वभाव में शामिल ही नहीं था। सात्विक जीवन और निष्पाप मनवाले शिवपूजन सहाय को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'अजातशत्रु' कहा है। उनके नजदीक रहनेवाले उनके जीवन को लेकर बहुत ही अभिभूत होकर बातें करते हैं। वे उन्हें देवोपम पुरुष मानते हैं। उनपर लिखे कई संस्मरणों में उनके व्यक्तित्व को लेकर ऐसे ही भाव व्यक्त किये गये हैं। लोग इन्हें संत मानते थे। जीवन में जिसने भी सताया, शोषण किया, उनके साथ भीतरघात किया, वह सारा गरल पी गए, मगर न तो कभी लिखा, न चर्चा की। आचरण के स्तर पर ऐसे घनघोर परम्परावादी कि उम्र ओर पद में छोटे होने के बावजूद वे होली-दशहरा में 'ब्राह्मण' सहकर्मियों तक के पाँव छूते थे। ब्राह्मणों प्रति ऐसी थी उनकी श्रद्धा! नलिनविलोचन शर्मा उनसे उम्र में पच्चीस साल छोटे थे। होली के अक्सर पर उनके पाँव पर अबीर रखते, तो वे टोकते- 'यह तो घोर अत्याचार है।' शिवजी कहते- 'यह तो मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।'

उन्होंने यथा संभव सभी की मदद की। ग्रामीणों और परिचितों को पढ़ाने-लिखाने अथवा नौकरी दिलाने में मदद की, उसमें यादव और दूसरी पिछड़ी जातियाँ भी शामिल थीं उन सबके प्रति उनका व्यवहार मृदुल ओर यथोचित रहा। उनके सम्पूर्ण जीवन और लेखन में धार्मिक आस्था का स्वर अत्यन्त प्रबल था। उनके लिए मामूली सुख भी 'ईश्वर की कृपा' और बड़ा-से-बड़ा दुख 'ईश्वर की इच्छा' थी। अपने जीवन में कठिन आस्तिक आचरण को साधकर उन्होंने खुद को साधकर के रूप में हिन्दी के प्रति समर्पित कर दिया था। हिन्दी-प्रेम भी उनके लिए एक तरह से ईश्वर-प्रेम की तरह था और उसकी किसी भी रूप में की गई सेवा पूजा थी।

हिन्दी-सेवा ही उनके व्यक्तित्व का सत्व हैं और सीमा थी। एक मायने में उनका यह श्रद्धाभाव उनके सृजनात्मक लेखन के लिए आत्मघाती सिद्ध हुआ। मामूली से मामूली लेखकों की पांडुलिपियों के लगातार शोधन से सर्वथा शुद्ध प्रकाशन के आदर्श में फ्रूफ्रवाचन तक करने के हठ में, अपने रचनात्मक जीवन के वे खुद ही जिम्मेदार रहे। नतीजा यह हुआ कि वे अपने सजे और सधे गद्य कौशल के अनुरूप कृतियाँ नहीं दे पाये। उनके गद्य को पढ़ने-समझनेवाले हर सुधी पारखी को इसकी कचोट महसूस होती हैं। हिंदी गद्य और शैली पर ऐसे आसाधारण अधिकार रखनेवाले लेखक गिने-चुने ही हुए हैं। भाषा के मामले में उनकी असाधारण अधिकार रखनेवाले लेखक गिने-चुने ही हुए हैं। भाषा के मामले में उनकी तुलना अचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से की जाती हैं।

शिवपूजन सहाय के व्यक्तित्व एवं व्यवहार में महात्मा गाँधी की अनुकृति थी। उनकी संपूर्ण लेखन-शैली में अंत तक नैतिक दृष्टिकोण का हठ था। गाँधीवादी सोच, संवेदना और सत्कर्म ने उनके मानस का ऐसा परिष्कार किया था कि निष्काम कर्म ही उनका जीवन-मूल्य बन गया था। यही कारण था कि वे जीवन में उनके मानवीय कमजोरियों से सहज मुक्त रहे। निश्छल और निष्पाम मन के आचरण से भिन्न वर्गों, समुदायों या परस्पर भिन्न भाव-सोच-कर्म वाले लोगों के बीच वह एक साथ आत्मीय बने रहें। दरअसल, उनके स्वभाव में एक विचित्र तरह की विनम्र सहनशीलता थी। वह परस्पर विरोधी और प्रतिकूलताओं से निरपेक्ष रह, बच-बचाकर अपने उद्देश्य के अनुरूप डगर तलाश कर लेते रहें। उन्होंने अपने जीवन-मूल्यों को नैतिक नींव पर रचा और इसी दृष्टिकोण को रचनात्मक स्तर पर भी संभव किया। हम उन्हें मानवतावादी या परम्परावादी कह सकते हैं। वह सच्चे अर्थों में घनघोर रूप से धार्मिक थे और अपने निजी जीवन में सात्विक और नैतिक जीवन मूल्यों के प्रबल हिमायती भी। विष्णु प्रभाकर जी ने शिवजी के व्यक्तित्व के बारे में लिखा है- “हमारे प्राचीन साहित्य में शिव एक अद्भुत देवता के रूप में कल्पित किये गये हैं। वह देवाधिदेव हैं, शिवशंकर हैं, श्यमानवासी, अत्यन्त अकिंचन और निरीह है। भोले इतने कि सहज ही कोई उनको उग सकता है। लेकिन रुद्र भी वहीं हैं। उनके मस्तक का तीसरा नेत्र जब खुला जाता है तो सब कुछ भस्म होकर ही रहता है। वह मरघटवासी, औघड़दानी ताण्डव नृत्य करना भी जानता है। विश्व की रक्षा के लिए ही वह महानाथ का रास रचाता है, जैसे उसके प्रेम और कल्याण की कोई सीमा नहीं है, वैसे ही उसकी विनाशक शक्ति की कोई थाह नहीं। निर्माण के लिए विनाश अनिवार्य हैं। आचार्य शिवपूजन सहाय उसी देवाधिदेव महादेव भोलेबाबा शिवशंकर का प्रतीक हैं।”²⁹

रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार- “श्री शिवपूजन सहाय मेरे उन सम्मान्य मित्रों में हैं, जिनकी चारित्रिक सम्पत्ति का उतराधिकारी बनने को मैं लालायित रहता हूँ। उनका गंगाजल जैसा शुद्ध जीवन, सकरुण स्वभाव, स्नेह और सहानुभूति से भरा हुआ व्यवहार और ‘कार्य वा साध्यामि, शरी वा पातयामि’ से अभिमंत्रित उनकी निष्ठा देखकर यह आभास होने लगता है, जैसे उपनिषद् काल का कोई ब्राह्मण इस युग में आ गया है।”³⁰

अपने समय में चल रहे साम्यवादी और समाजवादी आन्दोलनों से अपने को अलग रखते हुए उन्होंने अपने लिए सुधारवादी राह तलाश ली थी। उन्होंने कहीं-कहीं प्रगतिशील आन्दोलनों का भी विरोध किया है, क्योंकि उन्हें उनके वैचारिक पिछड़ापन जैसा दिखाता था। बावजूद इसके उन्होंने जीवन और समाज के यथार्थ आकलन में कहीं कोताही नहीं बस्ती। समय के साथ भाषा और समाज में पतन के निरन्तर अहसास के बावजूद उन्होंने भाषा और साहित्य की बलिवेदी पर अपनी मौन

शहादत दे दी। यह मौन ही उनके व्यक्तित्व की गरिमा थी और डॉ० रामविलास के शब्द लूँ तो 'कवच' भी। रामविलास जी के बार-बार आग्रहों के बावजूद उन्होंने निरालाजी के प्रति किये गये लोगों के अत्याचारों की चर्चा नहीं की। रामविलास जी ने लिखा है कि वह ऐसा करने में मृत प्रेतात्माओं का भय दिखाते थे, जबकि असल में उन्हें जीवित प्रेतों का भय था। उनके लगभग ढाई हजार पृष्ठों के विपुल लेखन में संभवतः एक भी पंक्ति ऐसी नहीं, जिसमें नाम सहित किसी व्यक्ति की आलोचना की गई हो। उनकी नैतिकता, जीवन और लेखन दोनों में दुराग्रह की सीमा तक बनी रही। उनका जीवन दर्शन था- कठोर नैतिकता, कठोर श्रम और पूरी निस्पृहता। इस जीवन दर्शन को उन्होंने आजीवन जिया।

शिवपूजन सहाय, महात्मा गाँधी के नैतिक और सात्विक आचरण को कठोरतापूर्वक निजी जीवन में उतारनेवाले साधक साहित्यकार थे। शिवजी के व्यक्तित्व में गजब की विनम्रता थी, गजब का संकोच था, जिसकी वजह से उन्हे बार-बार शोषित होने की विवशता झेलनी पड़ती थी। संभवतः आप उस ऊँचे स्तर के संत थे कि किसी के द्वारा दी गई पीड़ा का प्रतिकार आपके संस्कार में था ही नहीं। अपनी पीड़ा अपने तक समेटकर रखने की आप में अद्भुत क्षमता थी।

वंशीधर शुक्ल के काव्य में ग्रामीण संस्कृति एवं सौन्दर्य का चित्रण

डॉ० हिमांशु कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी, के.के.पी.जी. कॉलेज, इटावा, उ०प्र०

आधुनिक अवधी की वृहत्तरयी में श्री बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पढीस', श्री चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमईकाका' तथा पं० वंशीधर शुक्ल जी की गणना की जाती है। शुक्ल जी इस वृहत्तरयी में शीर्षस्थ हैं। अवधी सम्राट एवं राष्ट्र कवि की उपाधि से विभूषित अवधी के वरेण्य कवि पं० वंशीधर शुक्ल (जन्म 1904 ई०) का काव्य व्यंग्य, विद्रोह और वेदना की त्रिवेणी है। इन्होंने अपने काव्य में ग्रामीण परिवेश, किसानों की दीन-हीन दशा, किसानों के स्वाभिमान, राष्ट्रीय चेतना, ग्राम्य प्रकृति जनजीवन, व्यवस्था विद्रोह, मानवतावाद, परतन्त्र एवं स्वतन्त्र भारत की विसंगतियों आदि का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। ग्रामीण संस्कृति का जितना सूक्ष्म चित्रण इन्होंने अपने काव्य में किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी कविता के इस क्षेत्र में ये प्रायः अकेले हैं। इनके प्रभाव से इधर कुछ आधुनिक अवधी कवियों ने ग्रामीण क्षेत्र से सम्बन्धित प्रसंगों का वर्णन करना आरम्भ किया है। शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत ग्राम्य संस्कृति का एक चित्र इस प्रकार है -

जहाँ बजड़ रइदास कि ढपली
नाचइँ कुँवर कन्हइया
हुवइ बनी बन के कुंजन माँ
अपनी राम मड़इया
कहूँ-कहूँ बाँसन का झुरमुट नागफनी चउधारा
मूँजा बेलझर काँट करउँदा रूँधि रहे गलियारा
जहाँ बसंतु चुवावई महुवा जेतु तपइ जलु बरसइ
सरद कमल हेवंतु गेंदन पर सिसिर कुसुम पर बिलसइ
जलचर बनचर करइँ किल्वालइँ नाचइँ सुवा चिरइया
हुँवइ बनी सूनी दुनियाँ माँ अपनी राम मड़इया।¹

ग्राम्य जीवन के जीते-जागते चित्र भी इन्होंने अपने काव्यफलक पर अत्यन्त तन्मयता के साथ उकरे हैं। इन ग्राम्य कविताओं में विद्यापति की कोमलकांत पदावली की मिठास, वात्सल्य-शृंगार में सूरदास की भाँति ग्राम्या अनुभूतियों का अद्वितीय नैसर्गिक उच्छ्वास, नरोत्तमदास की भाँति ग्रामीण दैन्य का यथार्थ अंकन और प्रेमचंद की भाँति आम आदमी के अन्तर्मन की गहराइयों का सूक्ष्म परिचय पूरी ऊर्जा से उभरकर सामने आता है।

बचपन से इनका जो रिश्ता गाँवों के साथ स्थापित हुआ, वह इनके जीवन-काल तक ज्यों का त्यों कायम रहा। ग्रामीण वातावरण में पले शुक्ल जी आजीवन गाँवों को समर्पित रहे हैं। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन की झलक आसानी से देखी जा सकती है। कवि के शब्दों में -

'गाँव की जिन्दगी मेरी अपनी कहानी है उसे मेरे
जीवन से अलग नहीं किया जा सकता।'²

कवि को अपने गाँव व देश की मिट्टी से बेहद प्रेम है। गाँव और डीह, खेत-खलिहान, वन-उपवन, नदी-नाले, गली-गलियारे, खाई-खंदक, तीर और धारा उसे यह सब प्रिय हैं। कवि गाँव के इस सौन्दर्य को निहारते-बखानते कभी अघाता नहीं है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

ढफइया खेलई उड़ि-उड़ि मेघ
बीच माँ बिजुरी चमकइ आइ
न मेहरी लेंइ मर्द का नाँव
वहइ हइ अपना प्यारा गाँव।³

गाँजर क्षेत्र के गाँव रोग के आगार हैं, परन्तु वहाँ चिकित्सक कोई नहीं है। लोग अपनी चिकित्सा करने में स्वयं ही सक्षम हैं -

त्रिफला त्रिकुटा सउँफ कासनी
लाल लोनु अमलोनिया
यहइ दवा और बइदु गोसाँई
यहइ किसान की दुनियाँ।⁴

वंशीधर शुक्ल का कवि हृदय गाँव में पहुँचकर आह्लादित हो उठता है। गाँव की सोंधी मिट्टी की खुशबू, झूमते पेड़, चहचहाते पक्षी, नाचते पशु और अपने भूत, भविष्य को भूल वर्तमान में मग्न आदमी इनकी कविता के मूलाधार हैं। ग्रामीण प्रकृति का सहज, सरल सौन्दर्य सबको आकर्षित करता है -

कहूँ कहूँ बाँसन का झुरमुठ
नागफनी चउधारा
मूँजा बेलझर कांट करउँदा
हँध रहे गलियारा।⁵

अपने प्रिय गाँव का वर्णन करते समय कुछ भी इनकी नजर से बच नहीं पाता। कोयल की कूक, कुत्ते की भौंक, चिडिघ्या की चहचहाहट हो या मक्खी की भिनभिनाहट, घास चरते उछलते कूदते पशु हों या नदी नालों से कल-कल बहता सौन्दर्य इन सबके एक से बढ़कर एक बिम्ब कवि की कविताओं में मिलते हैं, यथा

गलिन माँ बिरवा छतुरी ताने
बिछउना दूब रही बिछवाय
भरे चउगिरदा नदी ताल
कुमुदिनी कमल रहे अउँघाइ
ममाखी फूल चूसि भन्नायँ
पसू चरि दूब घास फुँदुकाई
हन्न उछरई पंछी बुकिलाई
बलइया लइ बउँडर मड़राई
नदी गिरदावइ दइ दइ बाँव
वहइ हइ अपना प्यारा गाँव।⁶

भारत देश गाँवों का देश है किन्तु अधिकतर कवि गगन बिहारी रहे हैं। देश की धरती पर क्या बीत रही है, संध्या के समय किसे भोजन प्राप्त हुआ है किसे नहीं, कौन दुःखी है कौन सुखी,

जन-जीवन की संस्कृति से इनका अधिक सरोकार नहीं रहा। शुक्ल जी ने अपनी अधिकांश कविताओं में दीन-दुखियों की वेदनाओं को काव्य का वर्ण्य-विषय बनाया है। इनकी ग्रामीण मजदूर नामक कविता का एक चित्र प्रस्तुत है -

मुखिया की करौं मँजूरी,
दुइआना पैसा पावौं,
वहिके संझा का पक्के
दुइ सेर चना लै आवौं
फिरि बाँटि लोनु औ मिर्चा
सब धरू हिलि मिलि कै खाई
दिनु हल्ल-गल्ल माँ काटउँ
रातिउ भरि रोइ गँवाई
दस बजे राति का उठिके
दुइ बजे दौस लौ जोती
भूखे नंगे मूँडे पर
बाँधे वह आधी धोती
मुखिया कुछु दैय चबेना
सब घरै बाँधि लै आवौं
लरिकन के आगे कैसे
अपने मुँह माँ धरि पावौं।⁷

गाँव वालों का दुःख-दर्द और व्यथा लोकगीतों में ढलकर अमर हो गयी है। इन गीतों में व्यक्त पीड़ा और कारुणिक अनुभूतियाँ संवेदनशील मन को झकझोर कर रख देती हैं। ग्रामीणों की बातचीत में कोई भी बनावटीपन नहीं होता है, सहज भाव से वे जो कुछ भी बोल देते हैं वही भाषा हो जाती है। वंशीधर शुक्ल जी ने इसी सहजता को बनाए रखते हुए अपने गीतों में गाँव के दुःख-दर्द को गाँव की ही भाषा में व्यक्त किया है

हिया कुटुम्ब अकेले पालइ
धरमिनि बहू बिसुनियाँ
हिंया यहे अंजनु मसीन हई
यह मँजूर की दुनियाँ
लाठी डंडा बाँसु फटफटा
जेतुवा जूता ठेंगा
तबली हँसिया गँडसा फरुहा
यहे हिया के तेगा
दुनियाँ भरि के रोग हिया पर
खर पतवार दवाई
थोरा कंसहडु डीहु पुराना
यहइ हिया प्रभुताई।⁸

शुक्ल जी का कविता संसार कल्पनाओं के आवरण में नहीं लिपटा है वरन् ठोस धरती पर नंगा पसरा पड़ा है। वहाँ कोई बात छिपाई नहीं जाती, चाहे गाँव की कमजोरी अंधविश्वास हो या कोई अच्छाई। गाँव वालों की निश्छलता इनकी कविता में उजागर होती है क्योंकि वह स्वयं उनके बीच रहे और जिए। इनकी कविता में हर बात स्पष्ट रूप से कह दी जाती है -

हियाँ साँप का दूध मिलइ
अउ बंदरन का गुरधनियाँ
हिया होइ तुलसी की पूजा
यह गाँवन की दुनियाँ
× × ×
हियाँ जबाना चूसइ आवइ
यह रस चूसी पोनियाँ
हियाँ कहाँ उइ कोठी बंगला
हियाँ गाँव की दुनियाँ।⁹

गाँव में बचपन बीत कर कब जवानी आती है और कब ये जवानी बुढ़ापे में बदल जाती है कुछ पता ही नहीं चलता। जैसे पल भर के लिए सपना आता है और मन को प्रसन्न करके आँख खुलते ही लुप्त हो जाता है वैसे ही जवानी आती है और जीवन की कठोर सच्चाइयों

में सपने की तरह खो जाती है, फिर भी गाँव के लोग लगातार परिश्रम में लगे रहते हैं और जो कुछ उपलब्ध होता है उसी में संतोष करते

हैं। शुक्ल जी के कविता संसार में यह सब कुछ सजीव रूप से प्रस्तुत है -

धरती खोदे नाजु मिलइ
अउ चूहा खोदे पानी
बिरवा फोरे दूधु मिलइ
सपना असि मिलइ जवानी
लकड़ी पेरे सकर मिठाई
दाना पेरे तेलु
माटी खोदे नमकु मिलइ
उरुकिन ते अतर फुलेलु
× × × ×
हियाँ बर्ध पर संकर आवइँ
गरुड चढ़े भगवान
सिंह चढ़ी जगदम्बा मइया
गदा लिहे हनुमान।¹⁰

शुक्ल जी ग्राम्य जीवन और ग्राम्य प्रकृति के प्रतिनिधि कवि थे। ये गाँव की दुनिया पर ही सदैव लट्टू रहे तथा संघर्ष और पुरुषार्थ से जीवन भर हाथ मिलाते रहे। इनकी गाँव की दुनिया का एक चित्र दृष्टव्य है -

घास फूस के छप्पर छानी
लगी थोभरिया थुनियाँ

तिनमाँ छिपे अन्न के दाता
 यहड़ गाँव की दुनियाँ
 जहाँ रूपु चिथरन माँ बाँधा
 प्राण बंधे बाचा पर
 साखिन ते पलि रहा धरमु
 बाँधा कच्चे धागा पर।¹¹

शुक्ल जी जैसा ग्राम्य जीवन चित्रण कदाचित हिन्दी काव्य में उपलब्ध नहीं है। इनके काव्य का अधिकांश भाग ग्राम्य जीवन से ही सम्बन्धित है। किसान मजदूर, घर दुवार, देहरी, गलियारा, चारागाह, खेत-खलिहान, बैल, चरवाहा, हरवाहा, खेती-किसानी, तालाब, नहर, सूखा, अतिवृष्टि, बहिया, पाथर-वर्षा, अग्निकाण्ड, खण्डहर, उजड़े गाँव के डीह, अमराइयाँ इत्यादि इनके ग्राम्य जीवन वर्णन के अंग हैं। किसान के संदर्भ में ग्राम्य जीवन का एक मार्मिक दृश्य यहाँ प्रस्तुत है-

बड़े सवेरे ते हरु नाधई
 जोतई बवई मयावई
 फिरि खारा खुरुपा हँसिया
 लइ चारा घासइ धावई
 दुपहरिया माँ चारि पनेथी
 बड़की लोटिया पानी
 कबऊँ चबैना-मट्टा सरबत
 अइसेइ गइ जिंदगानी।¹²

एक स्थान पर शुक्ल जी ने कहा है कि ग्रामवासियों की बानी और व्यवहार में नारियल की भाँति ऊपरी कठोरता और विद्रूपता दृष्टिगत होती है पर इनका आभ्यान्तरिक स्वरूप निर्मल-निःश्चल, सरल-शीतल, रसमय तथा जीवन्तता प्रदान करने वाला होता है। वचन पालन करने के लिए वे अपना सर्वस्व तक त्यागने के लिए तत्पर रहते हैं -

नारि नर आपुस माँ बतुवाई
 प्रेम ते भरा लट्ट अस बोल
 लदा जिन पर दुनियाँ का बोझ
 बात पर मरई भये बिन मोल
 प्रीति आँखिन ते जानी जाइ
 विथा गीतन माँ गाई जाई
 काँस कुस काँटा खोभरन बीच
 पाँव ते पगडंडी बनि जाइ।¹³

भारतवर्ष गाँवों का देश है। वस्तुतः ग्रामीण संस्कृति ही भारत की वास्तविक संस्कृति है। गरीब गाँवों की संस्कृति का बारीक चित्र वही कवि सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकता है जो वहाँ पर रहता-बसता है। यह केवल सुनकर नहीं लिखा जा सकता। शुक्ल जी मूलरूप से ग्रामीण परिवेश के कवि हैं। ग्राम्य जीवन के प्रति इनके हृदय में अपार स्नेह है। इनका कवि हृदय गाँव में पहुँचकर प्रसन्नता से झूमने लगता है। वहाँ की सोंधी मिट्टी की खुशबू इनके तन-मन में बसी हुयी है। शुक्ल जी ग्राम वर्णन की विलक्षणता एवं उत्कृष्टता में अद्वितीय हैं। इनकी समकक्षता में कोई दूसरा कवि

है ही नहीं। हिन्दी के इतर कवियों की वाणी से ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध जो राग मुखर हुए हैं उनमें वह सर्वांगीणता नहीं है जो वंशीधर जी की प्रतिभावंशी से प्रस्फुटित राग माधुरी में है। वंशीधर जी ने गाँव का जीवन जिया है उसे हर परिवेश का पूरा-पूरा अभिज्ञान प्राप्त किया है। प्रत्येक क्षितिज और आयाम समीपता से देखे हैं। अतएव इनके अनुभवों के गंगाजल में नहाकर ग्राम्य युवतियों ने जो पवित्रता एवं सच्चाई पायी है उसे आधुनिक काव्य का दूसरा कवि हस्तगत नहीं कर पाया है। 'गाँव का गलियारा' नामक अपनी कविता में गाँव के विषय में बताते हुए कवि की पंक्तियाँ हैं -

कइउ कइउ बिछुड़े गाँवन का
चलि के देति मिलाय,
कातिक लगे पतौरा फूलै,
धुवा सरग मड़राय,
कहूँ मुसहरा कहूँ बबिहरा,
कहूँ झाडुछ झँरवारु,
ऊँचा-खाना ऐचिक बैँचा,
कहूँ नरिया कुँडवारु,
फरा चटजीरा ढाँखु मदारु।
जहाँ सबै ऋतु कूदति निकरै,
नाचति मोर पुछारि,
गावति निकरे पवन रंगीली,
सुनै बटोही झारि,
अल्हड़ बछरा छालति निकरै,
मोंछें ऐँठि किसान॥¹⁴

ग्रामीण जीवन शुक्ल जी का स्वयं का भोगा हुआ है और यही कारण है कि इनकी कविताओं में ग्रामीण जीवन के जितने भी चित्र उभारे गये हैं वे सभी जीवन्त प्रतीत होते हैं। ग्राम्य जीवन की विडम्बनाएँ, गरीबी, शोषण, शिक्षा, अंधविश्वास, खानपान, रहन-सहन तथा ग्राम्यवासियों के कोमल व सहज हृदय की सच्चाई और ईमानदारी का भावपूर्ण चित्रण शुक्ल जी की पैनी कलम द्वारा सजीव बन पड़ा है।

निष्कर्षतः वंशीधर शुक्ल के काव्य में ग्रामीण संस्कृति एवं सौन्दर्य का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ग्रामीण संस्कृति एवं सौन्दर्य का जितना सूक्ष्म चित्रण इन्होंने अपने काव्य में किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। साथ ही इनकी रचनाएँ समकालीन ग्रामीण संस्कृति एवं सौन्दर्य की यथातथ्य झाँकी प्रस्तुत करने में पूर्णतया सक्षम हैं।

संदर्भ सूची-

1. वंशीधर शुक्ल रचनावली, राम मड़इया, पृ० 398
2. सफरनामा पाक्षिक, साम्प्रदायिक-पं० वंशीधर शुक्ल, सन् 1994, पृ० 3
3. वंशीधर शुक्ल रचनावली, अपना गाँव, पृ० 56
4. वंशीधर शुक्ल रचनावली, किसान की दुनिया, पृ० 90
5. वंशीधर शुक्ल रचनावली, राम मड़इया, पृ० 398
6. वंशीधर शुक्ल रचनावली, अपना गाँव, पृ० 54

7. वंशीधर शुक्ल रचनावली, ग्रामीण मजदूर, पृ0 65
8. वंशीधर शुक्ल रचनावली, गाँव की दुनिया, पृ0 53
9. वंशीधर शुक्ल रचनावली, गाँव की दुनिया, पृ0 53
10. वंशीधर शुक्ल रचनावली, गाँव की दुनियाँ, पृ0 53
11. वंशीधर शुक्ल रचनावली, गाँव की दुनियाँ, पृ0 52
12. वंशीधर शुक्ल रचनावली, किसान की दुनियाँ, पृ0 89
13. वंशीधर शुक्ल रचनावली, अपना गाँव, पृ0 55
14. वंशीधर शुक्ल रचनावली, गाँव का गलियारा, पृ0 258

“आनन्द का प्रकाश” भारतीय संस्कृति के परिपेक्ष्य में

डॉ० सुभद्रा झा

इस संसार में छोटे से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े सम्राट तक प्रतिक्षण तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति का यत्न हमेशा करते हैं क्योंकि सभी प्राणियों की सहज प्रवृत्ति सुख के लिए ही होती है दुःख के लिए कदापि नहीं। जब प्राणियों की सहज प्रवृत्ति सुख की प्राप्ति के लिए ही होती है तो वह संसार के दुःख दावानल में क्यों संतप्त होते हैं? एकांततः सुखी कोई क्यों नहीं होता? इसकी मीमांसा करने पर उत्तरपक्ष यही निकलता है कि सुख क्या है इसके ज्ञान का अभाव ही दुःख का कारण है।

साधारण मनुष्य के जीवन में जब सुख आता है तो वह सुखी हो जाता है और जब दुःख आता है तो दुःखी हो जाता है वह यही नहीं सोचता कि इसमें उसका क्या योगदान रहा है जैसी स्थिति सामने आई वैसे ही हो गए। इसलिए हमारे ऋषि मुनियों ने एक नई स्थिति हमें सौंपी है—आनन्द के प्रकाश की। क्योंकि आनन्द में हमारी भूमिका आरम्भ हो जाती है! दुःख कभी किसी के जीवन में कम नहीं होंगे लेकिन जो आध्यात्मिक व्यक्ति होते हैं वे समझ जाते हैं कि दुःख आए तो दुःखी नहीं होना है दुःख का आना और हमारा दुःखी होना इसमें हम जितना भेद कर देंगे जितनी दूरी बना लेंगे उतने ही हम आनन्द के निकट चले जाएंगे। जब जिंदगी हमें दुःखी होने के सौ कारण बताए तो हमें जिंदगी को स्वयं बताना चाहिए कि हमारे पास खुश होने के हजार कारण हैं। प्रत्येक मनुष्य को यह समझना आवश्यक है कि संसार में जैसा सबकुछ दिखाई देता है वैसा वास्तव में नहीं है वास्तव में यह संसार आनन्द से परिपूर्ण है लेकिन सुख में सुखी होना और दुःख में दुःखी यह विषम अवस्था मनुष्य के दिल दिमाग ने स्वयं उत्पन्न किया है यदि ऐसा न हो तो जीवन कितना सरस एवं आनन्दमय हो जाए इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

इस संसार में जितने भी उद्योग हो रहे हैं वे सब किसी न किसी रूप में आनन्द की खोज के लिए ही किए जा रहे हैं चाहे वह बच्चों को स्कूल में पढ़ाना या मैदान में खेलने के लिए भोजना, विवाह करना, सन्तान की प्राप्ति अथवा धन कमाना ये सब कार्य आनन्द की प्राप्ति के निमित्त ही किए जाते हैं। इनमें से कोई भी कार्य अच्छा या बुरा नहीं है। इनमें यदि आनन्द मिल जाए तो वह अच्छा है न मिले तो बुरा है। मानव हृदय और मानव मस्तिष्क इतने भावग्राही एवं भाव व्यञ्जक हैं कि प्रत्येक घटना का प्रभाव लिए बिना नहीं रहते! मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि अच्छे भावों और उसके परिणामों में तन्मय तो होना चाहता है परन्तु असहजभावों और दुष्परिणामों से वह हमेशा बचना चाहता है वह यह नहीं समझता कि यह संसार परिवर्तनशील है फलतः अच्छे के बाद बुरा और बुरे के बाद अच्छा होना अवश्यभावी है। फिल्मों की भाँति वास्तविक जीवन में भी अंत में सबकुछ ठीक हो जाता है और यदि ठीक नहीं होता तो समझो वह अंत नहीं है कहानी अभी बाँकी है।

मनुष्य के जीवन में तमाम नकारात्मक संवेदनाओं का अभाव ही आनन्द है। वस्तुतः जीवन में आनन्द और प्रसन्नता का मार्ग दिखाने वाले, उपदेशों में अधिक अखरने वाली बात यह है कि वे आनन्द की प्राप्ति को ही जीवन का ध्येय मानने पर विवश करती प्रतीत होती है।

वास्तविकता में घट रही घटनाओं को साक्षी भाव से देखने से हमारे मानस और काया को शांति मिलती है भले ही वह श्रम साध्य प्रीतिकर हो इसमें द्वैत नहीं होता इसे आनन्द भी कह सकते हैं।

आनन्द उस व्यापक मानसिक स्थितियों की व्याख्या करता है जिसका अनुभव मनुष्य और अन्य प्राणी सकारात्मक मनोरंजक और तलाश योग्य मानसिक स्थिति के रूप में करते हैं! मनोविज्ञान में आनन्द सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य उन स्थितियों की पुनरावृत्ति नहीं करते हैं जिससे उन्हें भूतकाल में किसी प्रकार का संताप हुआ हो। वास्तव में आनन्द का अनुभव व्यक्ति परक है! और प्रत्येक व्यक्ति एक ही स्थिति में भिन्न प्रकार एवं परिमाण के दुख का अनुभव करते हैं।

ओशो के अनुसार 'जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों को छोड़ने के लिए तत्पर हो उसे ही उस शाश्वत आनन्द की अनुभूति होती है। आत्मा से उत्पन्न होने वाले आनन्द को छोड़कर जो वस्तुओं और विषयों से निकलने वाले सुख को ही आनन्द समझ लेते हैं वे जीवन की अमूल्य सम्पदा को अपने ही हाथों से नष्ट कर देते हैं।

सांइटिफिक रिसर्च के अनुसार खुशी अथवा आनन्द की बहुत अधिक तलाश हमें इससे और अधिक दूर ले जाती है। जर्नल ऑफ एक्सपेरिमेंटल साइकोलॉजी में प्रकाशित स्टडी में प्रसन्नता के बारे में राचेक निष्कर्ष सामने आए हैं। इस स्टडी के लेखक ब्रेंट फोर्ड कहते हैं कि खुशी के प्रति विभिन्न संस्कृतियों के नजरिए में विसंगति होती है। जापान जैसे सामूहिक समाजों में प्रसन्नता एवं आनन्द को सामाजिक व्यवहार से जोड़ा जाता है। जैसे कि आप मित्रों के साथ कितना समय व्यतीत करते हैं माता-पिता की देखभाल कैसे करते हैं उनके अनुसार ये सामाजिक जुड़ाव हमारे सुखी जीवन का हिस्सा है इन सबके द्वारा भी हम एक अलग तरह के अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इस तथ्य का मैं भी पूर्णरूप से समर्थन करती हूँ। लेकिन अमेरिका में खुशी को निजि सफलता, अच्छे कैरियर की तलाश सुख सुविधा के सामान की खरीददारी से आंकते हैं। इस कारण अमेरिकी जीवन भर स्वयं को कमतर महसूस करते हैं। फोर्ड के अनुसार अधिकतर लोग तटस्थ स्थिति में रहते हैं उनके अनुसार आनन्दमय जीवन का अर्थ ये नहीं कि हमारी जिन्दगी का प्रत्येक क्षण प्रत्येक पल खुशियों से ही भरा हो।

मनोवैज्ञानिक शोध के अनुसार आनन्द एवं सुख को प्राप्त करने के लिए उसके पीछे भागने की आवश्यकता नहीं है! अपितु वह तो स्वयं ही हमारे पास आएगी वह तो हमारे अन्दर है जरूरत है तो उसे अनुभव करने की एवं सदैव सकारात्मक रहने की। यदि हम स्वाभाविकता को स्वीकार कर लें जैसे हम हैं वैसे ही रहें स्वयं को दिखावटीपन से दूर रखें तो हमें भी आनन्द की अनुभूति हो सकती है। लेखिका सुज़न एर्ज़ के अनुसार लाखों लोग अमर होना चाहते हैं जबकि उन्हें यह नहीं पता होता कि बारिश वाले रविवार की शाम को कैसे आनन्दमय बनाना है। अब्राहम लिंकन के अनुसार हम शिकायत कर सकते हैं कि गुलाब के पौधे में कांटे हैं या खुशी व्यक्त कर सकते हैं कि कांटों के पौधे में गुलाब है अर्थात् किसी भी तथ्य को यदि हम सकारात्मक रूप से देखें तो वह हमारे लिए खुशी एवं आनन्द देने वाली हो सकती है। किसी ने कहा भी है कि आप जिन्दगी को जितना सैलिब्रेट करते हैं जिन्दगी आपको उत्सव मनाने के उतने ही मौके देती है।

मानव के हृदय में अनन्त इच्छाएँ उत्तरोत्तर जन्म लेती रहती है वे कभी शान्त नहीं होती। उगते हुए सूर्य के साथ प्रत्येक दिन कुछ नई आशा की किरणें आती हैं जो घने अन्धकार में भी जाने की जिजीविषा रखती है लेकिन जीवन जीने और जीवन पूरा करने में बहुत अन्तर है अधिकांश मनुष्य

जीवन भार ढोते दिखाई देते हैं वे सच्चे अर्थों में जीने का आनन्द जान ही नहीं पाते। ईश्वर मनुष्य को जितना भी दे दे पर किसी न किसी रूप में वह केवल पाना ही चाहता है! लोभ में आकर व्यक्ति कोई चीज हासिल करता है और फिर किसी दूसरी वस्तु को प्राप्त करने की कोशिश में लग जाता है। वस्तुओं को हासिल करने की सूची खत्म ही नहीं होती। अगली चीजों को लक्ष्य बनाने की बजाय हमें पहले प्राप्त हुई वस्तु का पूर्ण रूप से आनन्द उठा लेना चाहिए। परन्तु मनुष्य को संतोष कहाँ है? लोभ के कारण बड़ी से बड़ी सफलता मिलने पर भी मनुष्य हताश ही रहता है मनुष्य को लगने लगता है कि बहुत कुछ हासिल किया जा सकता है ऐसा अपराध बोध से ग्रसित होने के बजाय उसे सफलता मिलने पर अपने हृदय की गहराई में जाकर इस भावना का आनन्द उठाना चाहिए कि हम जो चाहते थे वह में मिल गया और हमारी आवश्यकता की पूर्ति अच्छे से हो गई। ऐसे में हमें यदि कभी जीवन में असफलता का सामना भी हो जाएगा तो हम उसका डटकर मुकाबला करने को तैयार रहेंगे। हम जीतना ही चाहते हैं तो ऐसे जीतें जैसे हमें इसकी आदत है। और हारें ऐसे जैसे कि आनन्द लेने के लिए बस एक बदलाव किया हो।

यह मानव मात्र का स्वभाव है कि हमारे पास चाहे कितना भी क्यों न आ जाए देने की कल्पना से भी मन घबराने लगता है। किसी जरूरतमंद को देने का आनन्द क्या है यह तो देने वाला ही उसको अनुभव कर सकता है। देने वाले को दुःख नहीं मिलता अपितु परमानन्द की अनुभूति होती है। क्योंकि जो देता है वह देवता बन जाता है। पाने वाले की आंखों की चमक देने वाले को सुख से परिपूर्ण कर देती है। देने से हृदय के द्वार खुलते हैं क्योंकि जैसे ही हमारे अन्दर देने की प्रवृत्ति जन्म लेती है हमारी मांग स्वतः ही कम हो जाती है और मांग न रह जाने पर प्रकृति हमें इसके बदले में सौ गुणा करके लौटाती है। देने का गुण मनुष्य के अन्दर के अहंकार को स्वयं ही नष्ट कर देता है और अहंकार नष्ट हुआ तो जीवन में आनन्द ही आनन्द है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन – बलदेव उपाध्याय
2. योगाङ्क – गीताप्रेस, गोरखपुर
3. ईशादि नौ उपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर
4. श्रीमद्भगवद् गीता-यथारूप – श्री श्रीमद् ए०सी० भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद
5. समाचार पत्र दैनिक भास्कर

हिन्दी कविता में समसामयिक बोध

डॉ० अलका प्रकाश

अतिथि प्रवक्ता, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समसामयिक बोध वह प्रत्यय है, जिसमें अपने समय की चेतना को संवहन करने की शक्ति होती है। साथ ही यह अपने समय को पहचानने की सामर्थ्य रखता है। काल में एक साथ बहुत कुछ घटित होता रहता है तथा एक घटना, व्यक्ति, विचार, भाव, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि उसी काल में घट रही दूसरी घटना के रूप-स्वरूप को प्रभावित करती है। इस काल में घट रही किसी घटना से संबंधित वे तत्व जो उस घटनाकाल में उपस्थित हैं तथा अपनी उपस्थिति से उसके रूप-स्वरूप को प्रभावित करते हैं, समकालीनता या समसामयिकता के तत्व कहे जायेंगे अतः समकालीनता या समसामयिकता उस व्यक्ति, घटना या स्थिति के विश्लेषण के रूप में प्रयुक्त होता है जो तथाकथित का समकालिक हो। समकालीनता की दो अनिवार्यताएं हैं- स्वचेतना और संवेदनशीलता। स्वचेतना के अभाव में हम जड़ व्यक्ति के समान हो जाते हैं, उन व्यक्तियों की तरह जिन्हें अपने काल, व्यक्ति और प्रवृत्तियों की पहचान नहीं।¹ संवेदनशीलता समसामयिक व्यक्ति के काल-बोध देश बोध, व्यक्तिबोध और समूहबोध के रूप में एकीभूत होकर प्रकट होती है।² हिंदी में 'समसामयिक' शब्द आंग्ल भाषा के 'कंटेम्परनियस' अथवा 'कंटेम्परेन्टि' शब्दों के रूप में प्रचलित है, जिसका अर्थ है- "एक ही समय में घटने वाला या 'समकाल' में विद्यमान। 'समसामयिक बोध' की विचारधाराओं के आधार पर युगीन-चेतना तथा संस्कृति की पुनर्रचना एवं पुनर्व्याख्या होती है।"³ आज की कविता अपने समय के सच को पूरी तरह अभिव्यक्त करने में सक्षम है।

वर्तमान समय इंटरनेट क्रांति का है, जो सूचना बहुल है, परन्तु आज हम यह भूल गये हैं कि सूचना और ज्ञान में फर्क होता है। केवल सूचना के सहारे संवेदना से रहित होकर साहित्य का सृजन नहीं हो सकता है। हमारा समसामयिक बोध आधुनिकता से जुड़ा हुआ है, यह मध्यकालीन बोध से अलग है, आज का साहित्यकार यथास्थिति को देख केवल दुःख नहीं प्रकट कर रहा अपितु इसे बदलने के लिए कटिबद्ध है। गोरख पाण्डेय कहते हैं-

"ये आँखें हैं तुम्हारी

तकलीफ का उमड़ता हुआ समुन्दर

इस दुनिया को

जितनी जल्दी हो

बदल देना चाहिए।"⁴

वर्तमान समय गहरे तनाव का है, यह तनाव विश्वजनीन है। करूणा, संवेदना एवं प्रेरणा के द्वारा ही कविता वैश्विक परिदृश्य ग्रहण करती है। समकालीन कवि युगीन समस्याओं व आवश्यकताओं के प्रति अधिक सचेत और सहज है, जो उसकी विशिष्टता है। समकालीन रचनाकार हमारे समक्ष एक महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि आज हम जिन स्थितियों का सामना कर रहे हैं उसमें कौन सी रचना सार्थक भूमिका निभा सकती है? जनता की चेतना पर संचार माध्यमों का आघात हो रहा है, उनकी सोचने समझने की दृष्टि को एक विशेष रूप में ढालने की प्रक्रिया चल रही है। मनुष्य एक वस्तु रह गया है, जिसका शोषण आधुनिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य हो गया है, जिसके कारण आज मनुष्यता खतरे में है। ऐसी परिस्थितियों से उबारने हेतु समकालीन लेखन से जुड़ी रचनाओं की

सर्वाधिक आवश्यकता है, जो मानव में विश्व-कल्याण की भावना को संवेदनात्मक भावों द्वारा उद्बलित कर सके व काल के गतिमय प्रवाह को निर्बाध, निर्मल व निष्कलंक रूप में प्रवाहित होने दे।⁵

आज की कविता में सिर्फ यथार्थ एवं सामयिकता का ही चित्रण नहीं मिलता अपितु समय के प्रश्नों एवं चुनौतियों से सीधा साक्षात्कार भी मिलता है। यह नारों एवं आंदोलनों से अलग हटकर अपने समय के सच को पूरा करती है।

आज स्त्री का शोषण नये तरीके से हो रहा है। साइबर क्राइम बढ़ रहे हैं, जरा सी नासमझी स्त्री की छवि एवं जीवन दोनों कलंकित कर सकते हैं। एक तरफ जहाँ पितृ-सत्ता की बंदिशें कमजोर नहीं पड़ी हैं, वहीं बेबाकी और निर्भीकता कभी-कभी सामूहिक बलात्कार और शोषण को भी निर्यात्रित कर दे रही है। इन सबसे मुक्ति का संघर्ष, एक स्त्री के लिए बड़ा कठिन है क्योंकि समाज ने स्त्री और पुरुष के लिए चारित्रिक मानदंड अलग-अलग तय कर रखे हैं। सविता सिंह की कविता 'सपने की औरत' में यह संघर्ष गहराई से अभिव्यक्त है। यह जीवन संघर्ष जितना कठिन है, उससे अधिक कठिन है, मुक्ति का संघर्ष-

अंधेरा कितना गहरा है, अब भी मेरे रास्ते का
और उसमें उतरना और उतरते जाना ही मेरी नियति है
कि बिना किये पार इसे
मिलेगा न फूलों का बाग मुझे
न वह आकाश।

आज घर और बाहर दोनों जगह कार्य करती स्त्री अपने 'स्पेस' की तलाश कर रही है। वर्जीनिया वुल्फ से सहमति दिखाते हुए, अनामिका ने अपनी कविता 'बेजगह' में इसी घर को खोजने की कोशिश की है-

“राम देख यह तेरा कमरा है
“और मेरा?”
ओ पगली
लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता।”

आज की कविता पर सर्वाधिक संकट, कविता के पाठक कम होते जाने का है, जब पढ़ा ही नहीं जायेगा तो रचना का क्या प्रयोजन? आज गाँव, घर, खेत, खलिहान, वन, पर्वत नदी का अस्तित्व खतरे में है। मूल्यों में आयी गिरावट और भूमण्डलीकरण ने विकट संकट उपस्थित कर दिया है, जिसके कारण गाँव, घर थोड़े-थोड़े करके चुकते जा रहे हैं। मंगलेश डबराल की इन पंक्तियों में यह दर्द स्पष्ट परिलक्षित होता है-

“कई बच्चे बड़े हुए इस घर में
गिरते पड़ते आखिरकार,
खाने-कमाने की खोज में तितर-बितर हुए
यहाँ कुछ मौते हुयीं
कुछ स्त्रियाँ रोयी इस तरह
कि बस उनका सुबकना सुनायी दे।”

सत्य-निष्ठा, कर्तव्यनिष्ठा, मूल्यों में विघटन आज के समय का सच है। मनुष्यत्व के हास की गाथा कुमार अंबुज की कविता 'सभ्य-जीवन' में द्रष्टव्य है-

“मैंने एक छलांग में पार किया जंगल
दूसरी छलांग में पहाड़
तीसरी छलांग में नदी
और चौथी छलांग में संबंध
अंतिम छलांग में पार करना था मुझे
एक छोटी सी खंदक
उसी में जा कर गिरा मैं
वहीं गुजारना था मुझे मेरा अकेला
सभ्य जीवन।

साइबर क्रांति के हजारों लाभ के साथ ही उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की संवेदना कुंठित हुयी है। हम टी0वी0 पर बम-धमाकों, अपहरण, बलात्कार की खबरे भी देख रहे होते हैं, और साथ ही चाय की चुस्कियाँ भी ले रहे होते हैं। प्रो0 राजेन्द्र कुमार के शब्दों में हमारे इतिहास, ज्ञान, व्यवहार का रोज चीरहरण हो रहा है, तो क्या हमारा साहित्य हमारी असहायता को सेलीब्रेट करने लगेगा? ये दोनों स्थितियाँ नकारात्मक हैं। इस बदलाव को चुनौती के रूप में संवेदना के पक्ष में कैसे मोल्ड किया जाय, संवेदनशीलता से कैसे जोड़ा जाय इन प्रश्नों से जो लड़ेगा वही समकालीन साहित्य होगा। उसमें जो संवेदना होगी, वह मनुष्यता के पक्ष में होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 राम निवास गुप्त, आधुनिकता बनाम समकालीनता, बोध काव्य शास्त्र के मानदण्ड, पृ0 217, वाणी प्रकाशन।
2. पूर्ववत्।
3. रमेश कुंतल मेघ, अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, पृ0- 462.
4. आँखे देख कर, जागते रहो सोने वालों, पृ0-29
5. ब्रह्म स्वरूप शर्मा- आधुनिक हिंदी साहित्य।
6. इंडिया टुडे, साहित्यवार्षिकी - 2002, पृ0 144
7. डॉ0 परमानंद श्रीवास्तव- समकालीन कविता का यथार्थ- पृ0 172-73
8. डॉ0 राधा वर्मा- समकालीन हिंदी कविता का बदलता परिदृश्य- प्रसंग अंक-14 पृ0 160 मई, दिसंबर- 2008

स्त्री-विमर्श की पाश्चात्य अवधारणा

डॉ० रंजना कुमारी

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, डॉ० राम मनोहर लोहिया स्मारक महाविद्यालय
बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

अंग्रेजी के 'डिस्कॉर्स' का हिन्दी अनुवाद विमर्श है। साहित्य में इधर करीब एक-डेढ़ दशक से दलित एवं स्त्री-विमर्श पर पर्याप्त चर्चाएँ हो रही हैं। आज जब कभी साहित्यिक परिचर्चा होती है तो 'विमर्श' शब्द स्वतः बहस के केन्द्र में आ जाता है। "शब्द-प्रयोग की दृष्टि से विमर्श शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इस शब्द की व्युत्पत्ति वि + मृद + धञ् से मानी गई है। इसके कई अर्थ हैं : विचार-विनिमय, सोच-विचार, परिचर्चा, चर्चा, तर्कना, विपरीत निर्णय आदि-आदि।" किन्तु आज यह विमर्श शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है उसे हिन्दी के आलोचक डॉ० नामवर सिंह "मिशेल फूको के डिस्कॉर्स का अनुवाद" मानते हैं। अंग्रेजी के 'डिस्कॉर्स' का अर्थ भी वार्तालाप संभाषण, बातचीत करना आदि होता है। अतः स्पष्ट है कि पश्चिमी 'डिस्कॉर्स' और भारतीय 'विमर्श' की अवधारणा में शब्दार्थगत पर्याप्त साम्य है, किन्तु आज इस शब्द का प्रयोग दलित एवं स्त्री शब्द के साथ होने पर एक विशिष्ट प्रकार की अर्थवत्ता देने लगता है। वस्तुतः इसकी अर्थवत्ता दलित एवं स्त्रियों की उपेक्षा एवं दुर्दशा के उन कारणों से संधान करने में है, जिनसे दलित एवं स्त्री जाति ने समाज में घोर उपेक्षा झेली है। उत्तर-आधुनिकता ने उत्तर संरचनावाद, नव मार्क्सवाद, नव व्यवहारवाद और फेमिनिज्म यानी स्त्रीवाद को जन्म दिया। वस्तुतः स्त्रीवाद ही एक प्रकार से स्त्री लेखन और विमर्श का प्रेरक रहा है, ऐसा लेखन जिसने स्त्री के बारे में गहराई से सोचने-समझने के लिए ध्यान आकृष्ट किया था।

इसमें सम्भवतः दो मत नहीं हो सकते कि आज के स्त्री-विमर्श का विषय है - स्त्री, उसका जीवन और जीवन की समस्याएँ। पश्चिम में यह आन्दोलन बहुत पुराना है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक अलनस्टोक्राफ्ट (1759-1873), हैरियट टेलर (1807-1858) और जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) उदारवादी नारीवाद के प्रमुख समर्थक के रूप में जाने जाते हैं। हम इतिहास से परिचित हैं और इस बात को जानते हैं कि नारी की अस्मिता के सवाल को सबसे ज्यादा बल देकर और किसी ने नहीं, दुनिया के समाजवादियों और मार्क्सवादियों ने ही उठाया था। एंगेल्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' के एक वर्ष पहले 1883 में अगस्त बेबल की पुस्तक 'नारी और समाजवाद' प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक ने सिर्फ जर्मनी में ही नहीं, पूरे यूरोप में एक प्रकार की सनसनी पैदा की थी। आज तक कई पीढ़ियों से यह पुस्तक मार्क्सवादियों को नारियों के प्रति एक नये दृष्टिकोण से दीक्षित करने की भूमिका अदा कर रही है। बेबल की यह पुस्तक और कुछ नहीं एंगेल्स की, 'परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' की नारी संबंधी कुछ मूलभूत धारणाओं का ही किंचित विस्तार थी। एंगेल्स ने जॉन स्टुवर्ट मिल आदि विचारकों के विपरीत साफ शब्दों में कहा कि "यह एक बिल्कुल बेतुकी धारणा है जो हमें अठारहवीं सदी के जागरण काल से विरासत में मिली है कि समाज के आदिकाल से नारी पुरुष की दासी थी।" लम्बे वैज्ञानिक पर्यवेक्षण के बाद एंगेल्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "आधुनिक वैयक्तिक परिवार, नारी की प्रत्यक्ष या परोक्ष घरेलू दासता पर आधारित है स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करे और इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार पर गुण नष्ट कर दिया जाय।"⁴

यूरोप में पन्द्रहवीं सदी के इतालियन रेनेसां की चरम परिणति 18वीं सदी के ज्ञान प्रसार आन्दोलन के रूप में हुई, इस दौर में बुद्धिवाद चिन्तन के केन्द्र में आ गया तथा सभी परम्परागत संस्थाओं को कड़ी चुनौतियाँ दी गयी। इसी काल में अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियाँ हुई। स्वतंत्रता की अमरीकी घोषणा (1776) तथा मनुष्य और नागरिक के बारे में फ्रांसीसी घोषणा (1779) की तरह ऐतिहासिक दस्तावेजों के जरिये स्वतंत्रता और मानवीय विवेक के बारे में लम्बे अरसे से चली आ रही शास्त्रीय किस्म की बहस ने एक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया, जिस पर ठोस ढंग से सामाजिक कारवाइयों का प्रारंभ हो गया। जाहिर है कि इस पूरे दौर के यूरोपीय समाज के सभी हिस्सों पर गहरा असर पड़ा। स्त्रियाँ भी इस उथल-पुथल में अछूती नहीं रह सकती थीं। औरतों के अधिकार सम्बन्धी प्रश्न भी तभी से नए रूप में उभर कर सामने आने लगे। इसी काल में बाल्स्टानक्राफ्ट की प्रसिद्ध पुस्तक 'विन्डीकेशन ऑफ दी राइट्स ऑफ वुमेन' 1772 प्रकाशित हुई, जिसे आधुनिक काल में नारीवादी विचारों की सबसे पहली महत्वपूर्ण पुस्तक के रूप में स्वीकारा जाता है। उस दौर में और भी कई लेखिकाओं ने यूरोप में महिलाओं के अधिकारों के बारे में छोटी बड़ी पुस्तकें लिखीं। इसमें सबसे गौर करने लायक बात यह थी कि खुद महिलाओं ने ही पुरुषों से समानता की बात करते हुए कलम उठायी थी। एक बात पर सबसे अधिक बल दिया गया कि महिलाओं और पुरुषों के बीच फर्क उनकी निजी प्रकृति से नहीं बल्कि शिक्षा और महिलाओं को मिलने वाले सामाजिक परिवेश की वजह से है। लड़कियों को भी लड़कों की तरह शिक्षा दी जाये-यह मांग उठ गयी थी। मेरी बाल्स्टानक्राफ्ट ने मूलतः औरतों के बारे में रूसो के विचारों पर कड़ा प्रहार करते हुए पूरे यूरोप का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। रूसो को चुनौती देते हुए उन्होंने कहा कि - "मैंने सम्भवतः रूसो की तुलना में कहीं ज्यादा संख्या में लड़कियों को उनके शैशव काल में देखा है।" उन्होंने पहली बार महिलाओं के लिए समान अधिकार की मांग रखी। बाल्स्टानक्राफ्ट की इस किताब को कुछ हलकों द्वारा नारियों के अधिकारों की बाइबिल कहा जाता है। बाद के काल के नारी आन्दोलन के समूचे इतिहास को यदि हम देखे तो उन सब में निहित विचारों को किसी-न-किसी रूप में बाल्स्टानक्राफ्ट की अवधारणाओं के साथ जोड़कर देख सकते हैं।

नारियों के अधिकार की यह विचारधारा सेंट साईमन, फूरियर तथा राबर्ट ओवेल की तरह के काल्पनिक समाजवादियों के चिन्तन के जरिये और आगे बढ़ी। काल्पनिक समाजवादियों का नारीवादी चिन्तन सबसे समग्र रूप में विलियम थांपसन (1775-1844) की पुस्तक में देखा गया। जिन जेम्स मिल के लेख के उत्तर में थांपसन ने अपनी किताब लिखी थी। उन्हीं के बेटे जॉन स्टुवर्ट मिल ने 24 वर्ष बाद अपने पिता की ही नहीं बल्कि थांपसन की परम्परा को भी आगे बढ़ाया और महिलाओं की स्थिति के विषय में विश्व विख्यात पुस्तक 'On the subjection of women' लिखा। स्टुवर्ट मिल की इस पुस्तक को उदारवादी नारीवाद की एक श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के रूप में जाना जाता है।

उन्नीसवीं सदी तक आते-आते, महिलाओं के लिए समान अधिकार की मांग एक प्रमुख राजनीतिक प्रश्न की शक्ल लेने लगी। शिक्षा, कानून, राजनीति आदि तमाम क्षेत्रों में एक आन्दोलन-सा शुरू हो गया तथा महिलाओं के लिए मतदान के अधिकार की मांग ने एक जन अभियान का रूप ले लिया। इस दौर के प्रमुख नारीवादी विचारकों में मुख्य रूप से इंग्लैण्ड के जॉन स्टुवर्ट मिल तथा उनकी पत्नी हेरियट टेलर तथा अमरीका की एलिजावेथ केडी स्टैन्टन का जिक्र किया जा सकता है। जिनके लेखन में इस पूरे दौर के नारीवादी सोच की सभी प्रमुख बातें निहित हैं। स्टैन्टन ने 'सेनेकाफाल कान्वैशन ऑफ 1848' लिखा, जिसमें महिलाओं के लिए मतदान का अधिकार, संपत्ति का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, रोजगार का अधिकार तथा राजनीति और गिरिजाघरों में सार्वजनिक भागीदारी के अधिकार की मांग उठायी थी। 19वीं शदी के अंत तक आते-आते यूरोप में नारी केन्द्रित

चिन्तन और सामाजिक आन्दोलनों ने एक ऐसी शक्ति अख्तियार कर ली थी, जिसमें से नारी-मुक्ति के परवर्ती सभी प्रकार की सोच के स्रोत को पाया जा सकता है।

नारी केन्द्रित चिन्तन की इस लम्बी परम्परा पर ही, समाज में नारियों की स्थिति के बारे में मार्क्सवादी चिन्तन टिका हुआ है। यह सच है कि खुद मार्क्स ने यौन-उत्पीड़न को कभी भी अपने अध्ययन का प्रमुख विषय नहीं बनाया। वे अक्सर यह अवश्य कहते थे कि 'समाज में नारी की स्थिति सामाजिक प्रगति का सूचकांक है।'⁶ लेकिन अपने आप में यह कोई नई बात नहीं थी। मिल की पुस्तक "On the Subjection of Women" में भी इसे पाया जा सकता है। लेकिन चूँकि मार्क्स ने पूरे मानव इतिहास और समाज का व्यापक विश्लेषण करने वाली एक विचारधारा दी थी, इसलिए आधुनिक नारीवादी-विमर्श में भी मार्क्सवादी विचारधारा ने एक काफी अहम भूमिका अदा की। इस मामले में खास तौर पर एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' और अगस्त बेबेल की पुस्तक 'नारी और समाजवाद' को नारीवादी विमर्श में एक अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान के रूप में देखा जा सकता है।

अठारहवीं सदी के अंतिम दिनों तथा उन्नीसवीं सदी में मेरी बाल्स्टानक्राफ्ट, काल्पनिक समाजवादियों, विलियम थाम्पसन, जेम्स मिल से लेकर सेनेकाफाल कन्वेंशन तथा जॉन स्टुवर्ट मिल तक के प्रारंभिक नारीवादियों ने नारियों के जनतांत्रिक अधिकारों की जो मांग उठायी थी, उन्नीसवीं सदी के अंत तक उनमें अधिकांश मांगों को ब्रिटेन तथा अमरीका में कानूनी तौर पर मान लिया गया था। यद्यपि वास्तविक समानता का अधिकार अभी बहुत दूर की चीज थी, लेकिन महिलाओं में शिक्षा का विस्तार हुआ, ऑफिस अदालतों में महिलाएँ काम करने लगीं। ब्रिटेन, अमरीका का संवैधानिक इतिहास इस बात का गवाह है कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक विभिन्न विषयों पर ऐसे कानून पारित किए गए, जिनमें मुख्यतः महिलाओं से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया था। कुल मिलाकर उन्नीसवीं सदी के अंत तक स्थिति यह बनी कि महिलाएँ अब सार्वजनिक जीवन और राजनैतिक बहसों से बाहर नहीं रह गयी थीं।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटेन और अमरीका के महिला आन्दोलन के लिए मतदान का अधिकार एक प्रमुख मांग बन गया था। महत्त्व की बात यह है कि अब मतदान का अधिकार ही अपने आप में अंतिम लक्ष्य नहीं रह गया, बल्कि वह महिलाओं की जिन्दगी में भारी रूपान्तरण की प्रक्रिया का एक अंग बन गया। "मतदान के अधिकार के लिए लड़ाई के जरिये, मतदानवादियों ने महिलाओं की जिन्दगी में पूर्ण रूपान्तरण से कम की लड़ाई नहीं शुरू की थी।"⁷ महिलाओं के लिए मतदान की मांग के फलस्वरूप जनतांत्रिक आन्दोलन के अंदर ही एक जनतंत्र-विरोधी विचारधारा भी पैदा हो गयी। इंग्लैण्ड और अमरीका में जब महिलाओं के मतदान का आन्दोलन शुरू हुआ था, उस समय तक सार्थक मताधिकार की स्वीकृति नहीं मिली थी, अर्थात् हर वयस्क नागरिक को मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं हो सका था, वह भले ही स्त्री हो या पुरुष, स्त्रियों के तो किसी भी हिस्से को यह प्राप्त नहीं था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तो यह था कि स्त्रियों को मतदान के अधिकार का प्रश्न सार्थक मताधिकार की मांग के साथ अभिन्न रूप से जुड़ जाता। लेकिन धरातल पर यह देखा गया कि स्त्रियों के मतदान के आंदोलन का भी एक हिस्सा सभी नारियों के मतदान के अधिकार के पक्ष में नहीं था। अमरीका की नारीवादी आन्दोलन की महत्वपूर्ण लेखिका कैरी चैपमैन कैन्ट (1858-1947) थी। उनकी यह मांग काफी उद्धृत की जाती रही है कि - "गंदी बस्तियों से मतदान का अधिकार छीनकर औरतों को दे दो।"⁸ मतदान का अधिकार समाज के सिर्फ कुलीन तबके को प्राप्त हो, यूरोपीय नारीवाद का एक हिस्सा भी इसका समर्थक था। पश्चिम में नारीवादी आंदोलन की इन भिन्न धाराओं के उदय का इतिहास इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि नारी-मुक्ति की सारी

लम्बी चौड़ी बातों के बावजूद नारीवाद अनिवार्य रूप में हमेशा प्रगतिशील नहीं रहा है। मतदान के अधिकार के आन्दोलन के वक्त नारीवादी आन्दोलन की अलग-अलग धाराओं का यह यथार्थ बाद के पूरे इतिहास में बार-बार जाहिर हुआ है।

इसी सिलसिले में ब्रिटेन की नारीवादी नेता, क्रिस्टाबेल पैकहर्स्ट की भूमिका का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्हें नारीवाद की आधुनिक सेक्स केन्द्रित धारा का एक मूल स्रोत कहा जाता है। उनका तर्क था कि - “क्यों महिलाएँ लेबर पार्टी पर विश्वास करें क्योंकि मजदूर वर्ग का पुरुष भी महिलाओं के प्रति उतना ही अन्याय पूर्ण है, जितना कि अन्य वर्ग का पुरुष।”⁹ अपनी इसी सोच पर चलते हुए राजनीतिक दृष्टि से क्रिस्टाबेल पैकहर्स्ट संरक्षणवादी हो गयी और महिलाओं के मामले में यह मानने लग गयी कि महिलाओं का उत्पीड़न मुख्य रूप से होता है। उन्होंने नारा दिया था - “महिलाओं को मतदान का अधिकार हो और पुरुष सतीत्व का पालन करो।”¹⁰

1930 के दशक तक दुनिया के नारीवादी आंदोलन का यह एक दौर था। इस दौर में समाजवादी देशों के साथ पश्चिम के पूँजीवादी देशों में भी महिलाओं को व्यापक राजनीतिक और कानूनी समानता के अधिकार प्राप्त हुए। इस प्रकार कमोवेश लगभग दो-तीन दशकों का एक ऐसा दौर बीता जिसमें पहले की तरह का कोई सक्रिय नारीवादी आंदोलन नहीं दिखाई देता। नारी जीवन में जो भी परिवर्तन आ रहे थे उसके मूल में सामाजिक विकास का स्वतः स्फूर्त प्रभाव कहीं ज्यादा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार दो-तीन दशकों के बीतने के साथ क्रमशः नये सामाजिक यथार्थ की गहराई से जाँच की जाने लगी और कानून तथा सिद्धांत के स्तर पर घोषित समानता के लक्ष्यों के विपरीत व्यवहार के स्तर पर सामाजिक जीवन में महिलाओं के प्रति जो भेदभाव बरकरार है, उस पर ध्यान दिया जाने लगा। राजनीति, रोजगार, वेतन आदि के समान अधिकार पर, तमाम तरह के प्रश्नों ने सर उठाना शुरू कर दिया और फिर एक बार नये विद्रोही तेवर के साथ नारीवाद का उभार दिखाई देने लगा, जो नवजागरण, ज्ञान-प्रसार से लेकर 19वीं और 20वीं सदी के प्रथमाद्ध तक की सारी उपलब्धियों पर प्रश्न चिन्ह लगाने लगा। 30 के दशक से लेकर 60 के दशक तक नारीवादी आन्दोलन के मौन रूप को भी पुरुष प्रधान विचारधाराओं के दमन का परिणाम बताया जाने लगा और नये रूप में नारी मुक्ति की आवाज उठने लगी।

60 के दशक में अन्य कई प्रकार के कथित विद्रोही आंदोलनों के साथ ही उस कथित आधुनिक नारीवादी आंदोलन का जन्म हुआ जिसकी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं को हम पूरे पूँजीवादी विश्व में फैलते हुए देख सकते हैं। इस नये दौर में, फिर एक बार कुछ पुराने प्रश्नों को भी उठाया गया। संभवतः इसकी मूल वजह यह भी थी कि नारीवादी आंदोलन की नयी पीढ़ी काफी हद तक इतिहास बोध से शून्य थी तथा नारीवादी विचारों और इतिहास की समृद्ध परम्परा से अपरिचित थी।

सिमोन द बोउवार के आगमन ने नारी-विमर्श को एक नया आयाम दिया। इनकी ‘दि सेकेन्ड सेक्स’ पुस्तक से नारी-विमर्श की विधिवत चर्चा की शुरुआत हो गयी। खुद बोउवार ने यह लिखा कि एक नारी होने के नाते व्यक्तिगत रूप से उन्हें कभी कोई कठिनाई नहीं आई, उल्टे 20 वर्ष की उम्र से ही उन्हें दोनों लिंगों के लाभ मिले। सार्त्र के साथ वे जुड़ी रहीं, लेकिन कभी उनसे न शादी की और न घर ही बसाया। सार्त्र के अन्य कई औरतों से सम्बन्ध थे, उसी प्रकार सिमोन के भी सार्त्र के अलावा दूसरे पुरुषों से सम्बन्ध थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन होटलों में बिताया और कहते हैं कि फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों की पुरुष प्रधान दुनिया में सिमोन ने भी पुरुष की भाँति जिन्दगी जी थी। सिमोन ने खुद को जानने के लिए यह जरूरी समझा कि पहले यह जानूँ कि औरत क्या होती है। इसी क्रम में सिमोन ने औरतों से सम्बद्ध साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि की पुस्तकों का अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि अन्य कई औरतों के साक्षात्कार लिए और उन्हें जानने समझने की कोशिश की। इस पूरे उपक्रम का ही परिणाम था - उनकी पुस्तक ‘दि सेकेन्ड सेक्स’।

अपने पूरे अध्ययन के बीच सिमोन ने यह दिखाया है कि “स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बनायी जाती है।”¹¹ सिमोन द बोउवार की इस पुस्तक पर सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन के विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

एलिस श्वेजर के साथ अपनी एक संवाद शृंखला में सिमोन द बोउवार ने स्वीकार किया कि सन् 1949 में जब उनकी ‘द सेकेंड सेक्स’ प्रकाशित हुई, तो पहले उसकी तीखी आलोचना हुई। फिर जल्दी ही यूरोप में उसे नारीवादी आन्दोलन का बाइबिल समझा जाने लगा। इसके बावजूद वे नारीवादी नहीं थीं। इसके कारण का उल्लेख करते हुए वे कहती हैं – क्योंकि उस समय मेरा यह विश्वास था कि औरत की समस्याएँ समाजवाद की प्रस्थापना और विकास के साथ हल हो जाएँगी। नारीवादी होने से मेरा तात्पर्य यह है कि कुछ खास स्त्री मुद्दों पर वर्ग संघर्ष से हटकर स्वतंत्र रूप से संघर्ष करना। मैं आज भी अपने इसी विचार पर कायम हूँ। मेरी परिभाषा के अनुसार “स्त्रियाँ और वे पुरुष भी नारीवादी हैं जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था में औरतों की स्थिति में परिवर्तन के लिए संघर्षरत हैं। यह सच है कि पूरे समाज की मुक्ति के बगैर स्त्रियों की पूर्ण मुक्ति संभव नहीं है, लेकिन फिर भी नारीवाद इस लक्ष्य के लिए आज और अभी से संघर्षरत है। इस अर्थ में मैं नारीवादी हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि औरत की मुक्ति के लिए हमें आज और अभी संघर्ष करना चाहिए, इससे पहले कि समाजवाद का हमारा स्वप्न पूरा हो.....।”¹² सन् 72 में दिए गए अपने इस साक्षात्कार में सिमोन फ्रेंच वामपंथियों और सोवियत रूस के अपने अनुभवों को भी ‘द सेकेंड सेक्स’ लिखे जाने के तेईस वर्ष बाद अपने को नारीवादी घोषित करने के मूल में स्वीकार करती हैं। अपने अनुभव के आधार पर वे इसका उल्लेख करने में कोई संकोच नहीं बरततीं कि वामपंथियों में भी स्त्री-मुक्ति के सवाल पर कुछेक अपवादों को छोड़कर, आम रवैया काफी विरोधी, आक्रामक और शत्रुतापूर्ण है।

कुल मिलाकर पश्चिमी स्त्री-विमर्श ने अपने आन्दोलनों के माध्यम से कुछ अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। किन्तु आज भी पश्चिम की स्त्रियाँ स्त्री मुक्ति के लिए अपनी आवाज बुलंद कर रही हैं। आर्थिक स्वतंत्रता तो उन्हें मिल गयी है किन्तु दैहिक स्वतंत्रता अभी नहीं मिल पायी है। आज उनका आन्दोलन दैहिक स्वतंत्रता के लिए चल रहा है। पश्चिम की स्त्रियाँ यह चाहती हैं कि जिस तरह पुरुष वर्ग कई स्त्रियों से संबंध रखते हैं उसी तरह वे भी कई पुरुषों से संबंध रखें। फलतः उनका संघर्ष अपनी दैहिक-मुक्ति के लिए इक्कीसवीं शताब्दी में चल रहा है, देखें कब उन्हें सफलता मिलती है। यह समय संदर्भ की बात है।

संदर्भ

1. संस्कृत-हिन्दी कोष - वामन शिवराम आष्टे, रचना प्रकाशन जयपुर, 2004, पृ0 सं0 . 946
2. हंस, अगस्त, 2004, पृ0 सं0 . 195
3. मार्क्स-एंगेल्स संकलित रचनाएँ, प्रगति प्रकाशन, मास्को भाग-3, पृ0 सं0 . 226
4. वही, पृ0 सं0 . 227
5. विन्डीकेशन ऑफ दी साइट्स ऑफ वुमेन - मेरी वालस्टानक्राफ्ट, पृ0 सं0 . 226
6. नारी प्रश्न - सरला महेश्वरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 . 19
7. सेक्स एण्ड सफरेज इन ब्रिटेन - एस केन्ट, प्रकाशन, 1990 पृ0 सं0 . 3
8. द फेमिनिस्ट वुमेन्स, इमैन्सीपेसन मुवमेन्ट इन यूरोप, अमरीका एण्ड आस्ट्रोएशिया - आर० इवेन्स, 1842. 1920, पृ0 सं0 . 204
9. राइज अप वुमेन द लिमिटेड कम्पीगेन ऑफ वुमेन सोसल एण्ड पोलिटिकल यूनियन - ए० रोसेल, 1903-1914, पृ0 सं0 . 23
10. वही, पृ0 सं0 . आमुख
11. स्त्री : उपेक्षिता - प्रस्तुति डॉ० प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स संस्करण, 2002ए पृ0 सं0 . 24
12. स्त्री के पास खोने के लिए कुछ नहीं है - प्रभा खेतान, पृ0 सं0 . 39।

कांट के नैतिक दर्शन में नैतिक आदेश और शुभ संकल्प की सम्बद्धता

संजीव कुमार सुधान्शु

शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

कांट का नीति दर्शन आधुनिक पाश्चात्य नीति दर्शन का प्रकाश स्तंभ है, जो तत्वमीमांसीय संदर्भ को व्यवहारिक बुद्धि के आधार पर मानवीय संवेदना के द्वारा रेखांकित करती है। कांट के इस नीति दर्शन का आधार है, 'व्यवहारिक बुद्धि' जो मानव के सहज ज्ञान, अंतर्जात बल और विशुद्ध चेतना पर आधारित विवेक शक्ति है, जो संवेदना से अनुप्राणित और शुद्ध तर्क बुद्धि द्वारा संपोषित होती है। व्यवहारिक बुद्धि का मूल क्या है। इसी को और स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि कांट के लिए यह केवल बुद्धि और क्रिया का संयोग नहीं बल्कि शुभ-संकल्प का स्वयं में बौद्धिक क्रियान्वयन है।

कांट का मानना है कि यह व्यवहारिक बुद्धि, मानवीय चरित्र, आदर्श और चेतना का आवश्यक अंग है, और उसके मनुष्य होने का प्रमाण भी। इसलिए मनुष्य को मनुष्य होने के लिए इसके अनुसार जीवन पद्धति विकसित करनी चाहिए। कांट के अनुसार ऐसा करना ही नैतिक जीवन व्यतीत करना है। नैतिक जीवन, नैतिक बुद्धि का अनुसरण करना है, और नैतिक बुद्धि सहज अंतर्विवेक या व्यवहारिक बुद्धि का उत्कृष्टतम स्वरूप है। नीतिशास्त्र में सहज अंतर्विवेक को ही नैतिक शक्ति कहा गया है। जो मानव प्रकृति का वह सामान्य तत्व है, जो किसी कर्म के सत् और असत् का ज्ञान प्राप्त करता है। कांट कहते हैं कि नैतिक नियम या नैतिक आदेश इससे स्वतः प्रसूत होते हैं। इसके संदर्भ में यह सामान्य धारणा है कि यह मानव में सामान्य तत्व के रूप में स्थित है, इसलिए यह किसी व्यक्ति विशेष का अंतःकरण न होकर, सामान्य तत्व है। बुद्धि सार्वभौम है, इसलिए नैतिक जीवन भी सामान्य और सार्वभौम है, वैयक्तिक नहीं।

कांट के अनुसार 'निरपेक्ष आदेश' वह आदेश है जो कर्म को किसी प्रयोजन की पूर्ति का साधन न मानकर उसे अपने आप में शुभ एवं अनिवार्य मानता है।¹¹ अर्थात् जो सभी प्रयोजनों से स्वतंत्र हो और सभी अवस्थाओं में सभी व्यक्तियों द्वारा समान रूप से स्वीकार्य हो। और मनुष्य इसका पालन बिना किसी उद्देश्य के इसे ही बाध्य मानकर (कर्तव्य, कर्तव्य के लिए) इसके प्रति आदर, सम्मान या निष्ठा के कारण करता है। इस कारण कांट इस निरपेक्ष आदेश को मनुष्य के कर्मों के नैतिक मूल्यांकन का निकष मानते हैं।

कांट का मानना है कि आदेश या आज्ञा जिसमें बाध्यता निहित है, वह केवल बौद्धिक नहीं बल्कि भावना से भी युक्त है। भावनाएँ मनुष्य को पहले अपनी ओर खिंचती हैं। यदि मनुष्य केवल बौद्धिक होता तो उसमें केवल शुभ-संकल्प का शाश्वत प्रभाव रहता है और वह सदैव नैतिक नियमों का ही पालन करता। जो बौद्धिक या नैतिक आदेश है, और आदेश में बाध्यता समाहित है। फिर आदेश में 'चाहिए' का बोध भी होता है। 'आदेश' बताता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए अथवा क्या नहीं करना चाहिए। भावना के सांसारिक गुण के कारण यह एक प्रकार की आंतरिक बाध्यता से युक्त हो

जाता है। जो व्यवहारिक बुद्धि और विवेक शक्ति की बाध्यता है। बुद्धि सार्वभौम है और सभी देश-काल परिस्थिति से मुक्त है, इसलिए निरपेक्ष है। कांट के अनुसार आदेश दो प्रकार के होते हैं-

(1) सापेक्ष आदेश:- यह प्रयोजनों द्वारा नियंत्रित और शर्तयुक्त होता है। साथ ही किसी साध्य का साधन भी। सापेक्ष आदेश दो प्रकार के होते हैं- (1) संदिग्ध व्यवहारिक सिद्धांत, (2) निश्चित व्यवहारिक सिद्धांत।

(2) निरपेक्ष आदेश:- इसमें दो भाग हैं निरपेक्ष और आदेश। कांट इसे व्यवहारिक बुद्धि की आज्ञा स्वीकार करते हैं। जिसका पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है। यह बुद्धि नैतिक नियमों की नियामक है, और मनुष्य को इसे अपना कर्तव्य समझकर पालन करना चाहिए।

अतः निरपेक्ष आदेश वह आदेश है, जिसे मनुष्य की व्यवहारिक बुद्धि किसी कर्म या आचरण को संपादित करने के लिए देती है। अर्थात् यह आदेश कर्तव्य के पूर्ति के लिए दिया जाता है।

शुभ संकल्प कांट के नैतिक दर्शन की आधारशीला है यह निरपेक्ष आदेश और सभी नैतिक नियमों के मूल में है। यह कांट के नीति दर्शन के मूल में इसलिए भी है कि, कांट जब अपने नीतिदर्शन पर चिंतन प्रारंभ करते हैं, तो प्राथमिक और अनिवार्य रूप से इस पर सवाल उठाते हैं कि 'विश्व में ऐसी कौन सी वस्तु है या चीज है 'जो निरपेक्ष रूप से शुभ है? अर्थात् उसका शुभत्व किसी अन्य पर निर्भर नहीं है? कांट कहते हैं कि "There is nothing in the world or even out of it that can be called good without qualification except a good will."²

कांट मानते हैं कि किसी कर्म का नैतिक मूल्य तभी है, जब उसके पीछे शुभ-संकल्प हो फिर इस कर्म के परिणाम का शुभ संकल्प के शुभत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि शुभ संकल्प स्वयं में परिणाम निरपेक्ष होता है। ऐसा इसलिए होता है, कि व्यक्ति का कर्म पर तो अधिकार है, परंतु परिणाम पर नहीं। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति कार्य का प्रारंभ करता है, शुभ संकल्प से युक्त होकर परंतु उसका फल उसके अनुकूल नहीं होता। इस पर कांट का यह मानना है कि इससे व्यक्ति के शुभ-संकल्प पर कोई परिणाम नहीं होना चाहिए, यदि परिणाम अनुकूल हो तब भी। क्योंकि शुभ संकल्प स्वयं में परिणाम निरपेक्ष होते हैं। फिर कांट इसे स्वतः शुभ भी मानते हैं।

Kant was quite prepared to allow that there are some qualities at mind which sense and facilitate a good will but he will not allow these to be regarded as good in themselves apart from a good will.³

कांट यह मानते हैं कि शुभ संकल्प का प्रत्यय मनुष्य की बुद्धि में पहले से ही रहता है, इसलिए इसके बारे में बताने से ज्यादा स्वरूप स्पष्ट करने की जरूरत होती है। इसकी अभिव्यक्ति नैतिक कर्मों के द्वारा होती है- जिन्हें कर्तव्य कहा जाता है। हमारा कर्तव्य शुभ संकल्प का ही प्रतिपादक है। यह शुभ-संकल्प कर्तव्य को नैतिक मूल्य प्रदान करता है।

कांट के नैतिक दर्शन पर तत्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय दर्शन के अनेकों दार्शनिक और विचारकों का प्रभाव है, और इन सभी का समन्वय कर कांट ने अपने नैतिक दर्शन को पूरे मानवता की ओर मोड़ दिया। कीथवर्ड ने कांट के इस नीति को व्याख्यायित करते हुए यह कहा कि "Kant makes it quite clear in many places that his main concern in ethics is with human fulfillment and the happiness which is its natural corollary".

इसी को और स्पष्ट करते हुए कीथ कहते हैं कि – Kants view of morality is teleological, in that it sees obedience so the moral law as at the same time, the fulfillment of human perfection.⁴

कांट के नीतिदर्शन का मूल आधार निरपेक्ष आदेश और शुभ संकल्प अपने पूर्ण विवेचना में इससे संबंधित दिखते हैं। इन दोनों में ही 'व्यवहारिक बुद्धि' के साथ-साथ नियमों के सार्वभौम बनने की व्याख्या मनुष्य को एक दूसरे से अनुभूति के स्वर पर जोड़ती है। साथ ही शुभ संकल्प, मनुष्य को भावात्मक स्तर पर सूझ के द्वारा अशुभ प्रवृत्तियों के निराकरण कर शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करता है। यहाँ कांट व्यवहारिक बुद्धि में विवेक अर्थात् संवेदना और उसके तर्कयुक्ता का समन्वय भी किया है और भावना को समुचित स्थान दिया है।

अंततः समन्वयात्मक दृष्टि, मानवीय संदर्भ और उसके सार्वभौम चेतना के रूप में कांट का निरपेक्ष आदेश और शुभ संकल्प उनके दर्शन और क्रियात्मक स्वरूप नीतिशास्त्र से अक्षरशः मेल खाता है, और संबंध भी है। खास कर उस संदर्भ में जब नैतिकता का विस्तार मानवीय संवेदना के चरम अनुभूति के रूप में किया जाने लगा।

संदर्भ

1. Grand work of the metaphysics – M.J-Poton-P-82
2. F.P. – Mom – P-9
3. Kantian Ethics – A.E. Teale – P-87
4. The Development of Kant view of Ethics – P-84
5. फाईव टाईप्स ऑफ एथिकल थ्योरिज – सी.डी. ब्रॉड

सामाजिक न्याय की अवधारणा

स्नेहलता

नेट-यूजीसी, शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सामाजिक न्याय का अर्थ है समाज के हर व्यक्ति, हर तबके के लिए न्याय। न्याय का अर्थ है जो उचित हो। जो एक व्यक्ति का सत्य हो वह समुचे समाज का सच हो। अधिकारों की सीमा केवल एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों तक सीमित न हो। इसके साथ ही साथ कर्तव्य एवं दायित्व भी केवल कुछ लोगों के जिम्मे पर न छोड़ा जाए। सामाजिक न्याय वास्तव में वहीं फलीभूत होगा जहाँ सबका साथ हो सबका विकास हो। वेद वर्णित सुक्त

‘संधच्छध्वम, संवद्ध्वम, समवेत हे मानसि जानताम्?’

यथा पूर्वे देवा भावो सज्जनाना उपासते’

इसी अर्थ को समाहित करता है। एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय (Social Justice) की बुनियाद सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। इसके मुताबिक किसी के भी साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। समाज के हर व्यक्ति के पास इतने न्यूनतम संसाधन होने चाहिए कि ‘उत्तम जीवन’ की अपनी संकल्पना को धरती पर उतार सके।

पालने से लेकर मृत्युशय्या तक हम समाज के साथ-साथ हैं और हमारा समाज हमारे साथ-साथ है। तभी हम मनुष्य हैं। हमारा कौशल, हमारी सामाजिक जीवन प्रणाली धरती के तमाम जीवों से हमें अलग और श्रेष्ठ सिद्ध करती है। हम पृथ्वी परिवार के मुखिया हैं। प्रकृति की अद्भूत सर्जना है-मानव। सभी जीव-जन्तु, वनस्पति और मनुष्य मात्र का विशाल परिवार है हमारी पृथ्वी। ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की प्राचीन भारतीय अवधारणा सामाजिक न्याय की गहनतम अभिव्यक्ति है। विभिन्न समुदायों सभ्यता संस्कृतियों में यह अभिव्यक्ति विविध रूपों में परिलक्षित होती है। चाहे मनुष्य के जीवन और गरिमा की बात हो, गरीबी आवश्यकताओं की बात हो, जात-पात हो, जकात-दान हो अथवा दुनियाँ बदल देने की बात हो सककी मूल अवधारणा सामाजिक न्याय का गठन और विस्तार है।

सामाजिक न्याय कोई अलग बात नहीं है बल्कि उन्नत एवं उच्च क्षमता युक्त समाज निर्माण की प्रक्रिया का या समाज का ही अभिन्न अंग है। न्याय के बिना समाज की संकल्पना अधुरी है। मानवाधिकार तथा समानता सामाजिक न्याय के मौलिक एवं आधार बिन्दु हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन के संविधान के अनुसार- “सामाजिक न्याय के बिना सर्वव्याप्त और अनंत शांति की प्राप्ति बेमानी है। सामाजिक न्याय दरअसल वैसे समाज या संगठन को स्थापित करने की अवधारणा है जो समानता तथा एकता के मूल्यों पर आधारित हो, साथ ही मानव अधिकारों के मूल्यों को समझे तथा प्रत्येक व्यक्ति/मनुष्य की प्रतिष्ठा को भी पहचाने।

सामाजिक न्याय पाने की दिशा में जरूरत और समय की मांग है कि उचित और संतुलित नीतियों-व्यवहारों को लागू किया जाए जिससे सामाजिक न्याय को सामाजिक प्रगति का हिस्सा बनाया जा सके।¹

सामाजिक न्याय के स्वरूप पर विचार करने के बाद भारतीय दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सामाजिक न्याय की अवधारणा पर विचार करेंगे।

भारतीय दर्शन में सामाजिक न्याय

साधारणतः भारतीय दर्शन के अंतर्गत सामाजिक न्याय की स्पष्ट अवधारणा नहीं पाई जाती है। लेकिन वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत इस अवधारणा को देखा जा सकता है। ऋग्वेद के पुरुषसुक्त में ईश्वर के चार अंगों के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कल्पना की गई है। ईश्वर के मस्तिष्क को ब्राह्मण, भुजाओं को क्षत्रिय, जंघाओं को वैश्य और पांवों को शूद्र कहा गया है। ये सामाजिक आध्यात्मिक अवधारणा के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस अवधारणा में सामाजिक संरचना का भाव दिखता है। इसे स्पष्ट करते हुए गीता में गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर इन चार वर्णों को सामाजिक संतुलन के लिए आवश्यक माना गया है और कहा गया है कि ईश्वर द्वारा ही इन वर्णों का विभाजन हुआ है।

मनुस्मृति में भी इन वर्णों को सामाजिक व्यवस्था और संतुलन के लिए आवश्यक माना गया है। परन्तु मनुस्मृति में ही इस व्यवस्था में दोष भी दिखता है और ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं ना कहीं शूद्र वर्ण की स्थिति को कमजोर किया गया है और उसे उपेक्षित माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय की अवधारणा का आरंभ बिंदु मनुस्मृति में ढूँढा जा सकता है। यदि सुत्र काल में आये तो चार्वाक दर्शन पूर्ण रूपेण वर्ण-व्यवस्था का विरोध करता है और सामाजिक समानता एवं संरक्षता की बात करता है। बौद्ध एवं जैन दर्शन में भी वर्ण व्यवस्था का विरोध किया गया है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शनों में वर्ण-व्यवस्था की बहुत स्पष्ट अवधारणा नहीं है परन्तु मिमांस दर्शन में यज्ञ करने का अधिकारी शूद्र नहीं माना गया है। वेदांत दर्शन में भी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी शूद्र को नहीं माना गया है। एक तरह से कहा जा सकता है कि मिमांसा और वेदांत दर्शन में भी सामाजिक असमानता दिखाई पड़ती है जो सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं की ओर संकेत करती है।

वस्तुतः भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय की स्पष्ट अवधारणा 20वीं शताब्दि के दार्शनिक चिंतनों में पाई जाती है मुख्य रूप से गाँधी और अम्बेडकर, कौटिल्य, रस्किन आदि के चिंतन में:-

अम्बेडकर का सामाजिक न्याय:- डॉ॰ अम्बेडकर आधुनिक भारत के निर्माताओं में 20वीं शताब्दी के महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। अम्बेडकर सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के अग्रदूत हैं। उन्होंने समाज में जाति प्रथा एवं छुआ-छूत के विरुद्ध में सामाजिक आंदोलन के साथ-साथ जनजाति अनुसूचित जातियों एवं पिछड़ी जाति के लोगों को राजनैतिक अधिकार दिलाने के लिए क्रांतिकारी कदम उठाये/उनका सबसे बड़ा योगदान भारतीय संविधान में अनुच्छेद 15 और 16 को शामिल कराना है, जिससे अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की गई। विश्व में उन्हें सामाजिक न्याय का मसीहा और सामाजिक दासता का कट्टर शत्रु के रूप में स्मरण किया जाता है। वहीं एक ऐसे न्यायप्रिय विद्वानों में से हैं, जिन्होंने न्याय के अवधारणाओं को नया रूप दिया। उन्होंने सामाजिक न्याय

को बचपन से ही अनुभव किया, उसकी पीड़ाओं को भोगा और उसके क्रूर प्रहारों को सहन ही नहीं किया अपितु साहस पूर्वक उनका डटकर सामना किया।

भारतीय समाज में विद्यमान सामाजिक अन्याय ने ही अम्बेडकर को सामाजिक न्याय के स्वरूप और विषय पर चिंतन करने के लिए बाध्य किया।

अम्बेडकर न्याय की सामान्य धारणा, न्याय के स्वरूप एवं विषय के संबंध में प्रो० बर्गबॉन के विवेचन से है। जिन्होंने कहा है कि “न्याय का सिद्धांत सारगर्भित और अधिकांशतः उन सभी सिद्धांतों को भी अपने में सम्मिलित करता है, जो एक नैतिक व्यवस्था की आधारशिला बन चुके हैं, न्याय ने सदैव समानता क्षतिपूर्ति के समानुपात के विचारों को जागृत किया है। समदृष्टि समानता की ओर संकेत करती है। नियम तथा संयम, सही एवं सदाचरण का मूल्य में समानता से संबंध होता है। यदि सभी आदमी समान हैं तो सभी मनुष्य एक ही सार-तत्व के हैं, और वह समान सार-तत्व उन्हें समान मौलिक अधिकारों और समान स्वतंत्रता के लिए बनाता है।

कौटिल्य का सामाजिक न्याय:- प्राचीन भारतीय विचारकों में आचार्य कौटिल्य का अपना एक सर्वोच्च स्थान है। कौटिल्य को कुटनीति के करण ही हम एक सफल राजनीतिज्ञ मानते हैं। कौटिल्य ने केवल राजनीति और अर्थनीति पर विचार नहीं किये बल्कि सामाजिक सुधार के लिए भी प्रयत्नशील रहे। इसलिए सामाजिक विचारक के रूप में भी उन्हें जाना जाता है।

कौटिल्य का मुख्य ग्रंथ है- अर्थशास्त्र। इस ग्रंथ में उन्होंने मनुस्मृति में वर्णित शूद्रों के कर्तव्यों से भिन्न कर्तव्य का वर्णन किया है। जैसे, जहाँ मनुस्मृति के अनुसार शूद्रों का एक मात्र कार्य ब्राह्मणों की सेवा करना है। वहाँ अर्थशास्त्र शूद्रों को कर्म करने के लिए भी कहता है। ये मनुस्मृति के विपरित शूद्रों को भी सेवा में भर्त्सी होने का अधिकार प्रदान करते हैं। कौटिल्य अन्य वर्णों के महत्व को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मणों को सर्वाधिक महत्व देते थे।

कौटिल्य एक सफल सामाजिक विचारक थे। उन्होंने समाज की सही नड़ी पकड़कर सामाजिक बुराईयों का निदान किए हुए थे, जहाँ सामाजिक व्यवस्था के वंचालन में इतना कार्य किया वहाँ दूसरी ओर सामाजिक नियमों की सुरक्षा के लिए बुरे कार्य करने वालों को किसी प्रकार की भी छूट नहीं दी जाती थी। यही कारण था कि ऐसे समाज में शीघ्रता से कोई समाज के विपरित कार्य नहीं कर सका।

सामाजिक न्याय रस्किन और गाँधी:- गाँधी जी के हृदय संस्कारगत सामाजिक न्याय या सर्वोदय के अंकुर को पल्लित करने का काम रस्किन की सुप्रसिद्ध पुस्तक *Unto this last* (आन टू दिस लास्ट) ने किया। गाँधीजी को इस पुस्तक से परिचय अफ्रिका के हंसबर्ग स्टेशन पर मिस्टर पोलक ने रस्किन की पुस्तक ‘अन टू दिस लास्ट’ हाथों में दी गाँधीजी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है “इसे हाथ में लेने के बाद मैं छोड़ नहीं सका। इसने मुझे जकड़ लिया। ट्रेन, शाम को डरबन पहुँची सारी रात मुझे नींद नहीं आयी। पुस्तक में दिये गये आदर्शों के साँचे में अपने जीवन को ढालने का मैंने निश्चय कर लिया, जिस पुस्तक ने मुझ पर तत्काल असर डाला और मुझमें महत्वपूर्ण ठोस परिवर्तन किया, ऐसी तो यही एक पुस्तक है।”

“रस्किन ने अपनी पुस्तक में मुख्यतः ये तीन बातें बतायी हैं-

1. व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित है।
2. वकील का काम हो, चाहे नाई का दोनों का मूल्य समान ही है कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।
3. मजदूर, किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।

गाँधीजी उपर्युक्त बातों के संबंध में लिखते हैं –“पहली बात मैं जानता था, दूसरी बात धुंधले रूप में हमारे सामने थी पर तीसरी बात का तो मैंने विचार ही नहीं किया था। “अन टू दिस लास्ट” पुस्तक ने सूर्य के प्रकाश की भाँति मेरे समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी कि पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बातें भी समायी हुई हैं।

हाँ तो बाईबिल की एक कहानी के आधार पर ही, रस्किन की पुस्तक का नाम “(Unto this last)”। इसका अर्थ होता है- “इस अंतवाले को भी”

“अंगूर के बगीचे के मालिक ने एक दिन सबेरे अपने यहां काम करने के लिए कुछ मजदूर रखे। मजदूरी ये हुई - एक पेनी रोज।

दोपहर को वह मजदूरों के अड्डे पर फिर गया। देखा, उस समय भी कुछ मजदूर खड़े हैं- काम के अभाव में। उसने उन्हें भी अपने यहां काम पर लगा दिया।

तीसरी पहर और शाम को फिर उसे कुछ बेकार मजदूर मिले। उन्हें भी उसने काम पर लगा दिया। काम समाप्त होने पर उसने मुनीम से कहा कि “इन सब मजदूरों को मजदूरी दे दो। जो लोग सबसे अंत में आये हैं उन्हीं से मजदूरी बाँटना शुरू करो”।

मुनीम हर मजदूर को एक-एक पेनी दे दी। सबेरे से आनेवाले मजदूर सोच रहे थे कि शाम को आनेवालों को जब एक-एक पेनी मिल रही है, तो हमें उससे ज्यादा मिलेगी ही, पर जब उन्हें भी एक ही पेनी मिली, तो मालिक से उन्होंने शिकायत की कि “यह क्या कि जिन लोगों ने सिर्फ एक घंटे काम किया, उन्हें भी एक पेनी और हमें भी एक ही पेनी- जो दिन भर धूप में काम करते रहे”।

मालिक बोला “भाई मेरे मैंने तुम्हारे प्रति कोई अन्याय तो नहीं किया। तुमने तो एक पेनी रोज पर काम करना मंजूर किया था न? तब अपनी मजदूरी लो और घर जाओ, मेरी बात मुझ पर छोड़ो। मैं अंतवाले को भी उतनी ही मजदूरी दूँगा, जितनी तुम्हें अपनी चीज अपनी इच्छा के अनुसार खर्च करने का मुझे अधिकार है न? किसी के प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ तो इसका तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है?”

सुबह वाले को जितना शामवाले को भी उतना-यह बात सुनने में अटपटी भले ही लगे, परन्तु मानवता का, समानता का, अद्वैत का वह तत्व समाया हुआ है, जिसपर “सर्वोदय या सामाजिक न्याय” का विशाल बुनियाद खड़ा है।

महात्मा गाँधी के शब्दों में ‘पूर्ण स्वराज्य कहने का मेरा अभिप्राय यह है कि जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसान के लिए जितना किसी धनवान जमींदार के लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतिहर मजदूर के लिए होगा, उसमें जाति-पाति, धर्म अथवा दर्जे के भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

गाँधी जी अपने इसी स्वराज्य को पाने की दिशा में एक मार्ग का निर्देश किया था और वह था सत्ता का विकेन्द्रिकरण। इसके लिए उन्होंने संरक्षता के सिद्धांत का पालन करके एक समाज में आर्थिक समानता की स्थिति को लाई जा सकेगी। सबकुछ सब का है का सिद्धांत फलीभूत होगा। वस्तुतः गाँधी जी समाज में निहित पूंजीपतित्व की भावना और गरीबी-बेकारी की समस्या के विरोधी थे। उनकी राय में आदर्श राज्य व्यवस्था उस व्यवस्था का नाम है जिसमें हरेक व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक सुख भोगी होकर रहता है। उनकी दृष्टि में हिन्द स्वराज का अर्थ है अधिकार अंततः किसानों और श्रमिकों के हाथों तक पहुँचाया जाए। जिसके द्वारा समाज में न्याय की स्थापना को बल मिल सके।

संदर्भ :

1. प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन, अशोक कुमार वर्मा
2. वही
3. गाँधीवाद को विनोवा की देन
4. समकालीन भारतीय दर्शन: वसंत कुं लाल
5. सामाजिक विचार, विजय प्रकाशन, सुडिया-वाराणसी, 1989
6. उपरिवत्

पूरुणिया जिले में बीस सूत्री कार्यक्रम कार्यान्वयन में सरकार की नीति एवं परिणाम

मो. नौशाद

शोधप्रज्ञ, राजनीतिशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

बीस सूत्री कार्यक्रम विकास की वह नीति रही है जिसके द्वारा भारत के जनसंख्या के अधिकतर लोगों को उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति यथासंभव हो सके। प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित जनता विभिन्न प्रकार के प्रकोपों से अपने आप को सुरक्षित नहीं कर पाती थी। अनेक प्रकार की योजनाएँ निवारण हेतु बनी परन्तु कोई संतोषजनक परिणाम नहीं दे सका। 1975 से लेकर अब तक बीस सूत्री के रूप में योजनाएँ सामने आती रहीं जिसका वांछित परिणाम जनता को महसूस होने लगा।

सर्वप्रथम बीस सूत्री कार्यक्रम को विस्तारपूर्वक उनके अर्थ के संदर्भ में जानना आवश्यक है। बीस सूत्री का सीधा अर्थ बीस योजनाओं के समुच्चय से है जो भारत में जीवन बसर करने वाली जनता के विभिन्न क्षेत्रों की बाधाओं को कम करने अथवा सुविधा मुहैया कराने से जुड़ी है। बीस सूत्री की प्रत्येक योजना विशाल देश की विकाराल समस्याओं का सुगम इलाज कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप बिजली, सड़क, चिकित्सा आदि योजनाएँ राष्ट्र निर्माण (Nation Building) के आधारों में अहम आधार माना जाता है। इसके अभाव में मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की कल्पना, कोरी कल्पना ही समझी जा सकती है।

बीस सूत्री कार्यक्रम की बीस योजनाओं में बहुतेरे योजना को पूरा भी कर लिया गया। बंधुआ मजदूरी समाप्त करने का कानून 1976 में बनाया गया। तस्करों की सम्पत्ति जब्त करने के उपाय किए गए। निम्न तथा मध्यम आय वर्ग के लाखों लोगों को आयकर से छूट दी गई है। सड़क परिवहन के लिए राष्ट्रीय परमिट योजना लागू की गई। 50 लाख हेक्टेयर ज़मीन में सिंचाई की व्यवस्था करने का उद्देश्य भी पूरा कर लिया गया है। जल से संबंधित कई योजनाएँ तैयार की गई हैं। ज़मीन से मिलने वाले पानी के प्रयोग के वास्ते भी कई योजना तैयार की गई हैं।

1975 में घोषित बीस सूत्री कार्यक्रम में शामिल अन्य कार्यों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। अनेक लक्ष्य प्राप्त हो जाने, लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में काफी परिवर्तन आ जाने तथा नई चुनौतियों के कारण यह ज़रूरी हो गया कि इस कार्यक्रम को नया रूप दिया जाय। गहराई से विचार करने के बाद सरकार ने नया बीस सूत्री कार्यक्रम तैयार किया जिसकी घोषणा प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने 14 जनवरी 1982 को राष्ट्र के नाम प्रसारित अपने संदेश में की। नई सदी में जनता की जागरूकता ही शत-प्रतिशत बीस सूत्री कार्यक्रम को सक्रिय बना सकती है, आवश्यकता इस बात की है कि भारत के एक-एक व्यक्ति अशिक्षा, बेरोजगारी, कुव्यवस्था एवं समाज में पनपे हर प्रकार की कुरीतियों को समाप्त करने के लिए प्रतिज्ञा करे। 1982 के भारत और 1947 या उससे दस वर्ष पहले के भारत में बहुत बड़ा अंतर है।

वर्तमान में हमारे देश की गिनती विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में होती है। पंचवर्षीय योजनाओं के जरिये कृषि और उद्योग की टेक्नोलॉजी में बहुत परिवर्तन आया है और बड़ी संख्या में प्रशिक्षित कर्मचारी तैयार किए गए हैं। आत्मनिर्भरता की दिशा में हम लगातार आगे बढ़े हैं। प्रति व्यक्ति आय भले ही अधिक नहीं है पर पुरानी समस्याओं के साथ-साथ उन नई समस्याओं से भी निपटने में अब भारत सक्षम है जो विकास से ही पैदा हुई है।

बीस सूत्री कार्यक्रम के तमाम बिंदुओं पर प्रकाश डालना इस आलेख में संभव नहीं है परंतु कुछ बिंदु ही सही है। उनके महत्व एवं जनता की आवश्यकता अवश्य ही प्रकाश में लाया जा सकता है। मूलतः बीस सूत्री का कार्यान्वयन जिला से प्रारंभ से होता है और मेरे शोध का विषय पूर्णिया जिला भी है। बीस सूत्री कार्यक्रम के कार्यान्वयन का मुख्य केन्द्र जिला है और यही कारण है कि इसकी सफलता तथा असफलता जिला प्रशासन की अभिरुचि, उसके उपक्रम, उसकी लगनशीलता और इमानदारी पर निर्भर करती है। जिला प्रशासन को इस दिशा में सहायता, सहयोग, समर्थन और आवश्यकतानुसार मार्ग निर्देशन प्रदान करने के लिए जिला बीस सूत्री समिति के माध्यम से समाजसेवी, बुद्धिजीवी एवं जन प्रतिनिधियों की सेवा उपलब्ध रहती है। इस प्रकार, जिला प्रशासन के के उत्तरदायित्व के अधीन अनुभव और आवश्यकता के आधार पर 'बीस सूत्री' के प्रावधानों को क्रिया रूप में परिणत करने की व्यवस्था है। इस दृष्टि से बीस सूत्री का जिला स्तरीय प्रशासन बीस सूत्री की सफलता का मूल आधार है।

पूर्णिया जिला स्तर पर बीस सूत्री कार्यक्रम जिस प्रकार संचालित हुआ है, वह पृष्ठ पर संतोषजनक प्रतीत नहीं होता है। निश्चय ही संतोष शब्द विषयपरक है, वस्तुनिष्ठ नहीं। अतः यहाँ संतोष शब्द का अभिप्राय प्रशासनिक उपलब्धियों के उस परिणाम से है जिसमें तीन बातों का अभाव है:-

- (1) निर्धारित मात्रा या परिणाम में लक्ष्य पूरा नहीं हो
- (2) लक्ष्य भले ही पूरा हो गया हो पर ऐसा क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुपात में नहीं हुआ हो
- (3) Target पूरा हो गया हो पर सामाजिक न्याय की उपेक्षा की गई हो तथा संबंधित पदाधिकारियों ने उचित प्रक्रिया का अनुगमन किया हो। वित्तीय साधन विहित राशि में ही उपयोग किए गए हों। जहाँ कहीं भी कार्य संपादन हुआ हो, वरीय पदाधिकारी के द्वारा कार्य का निरीक्षण किया गया हो और आवश्यक सुधार के प्रयास किए गए हों। जहाँ Target पूरे नहीं हुए हों, वहाँ ऐसा क्यों नहीं हुआ, इस बात का अन्वेषण किया गया या नहीं, यदि हाँ तो तदनुसार सुधार के उपाय किए हों, बीस सूत्री कार्यक्रम के संचालन में संबंधित पदाधिकारियों के बीच समन्वय की व्यवस्था की गई या नहीं।

उपरोक्त प्रश्न के समान ही विश्लेषण के क्रम में और भी नए प्रश्न उत्पन्न हों, जैसे अनेक प्रश्न चिह्न मैंने चिह्नित की है, वास्तव में विकास शब्द की उत्पत्ति इस आशय से है कि उक्त बातों पर हम कितना सफल हो चुके और क्या कारण हुआ कि लक्ष्य की प्राप्ति में अवरूद्धता या असफल हुए। काम के कार्य क्षेत्र संबंधित पदाधिकारियों द्वारा सही से निर्वहन हुए या नहीं हुए, उक्त विकास शब्द का अभिप्राय यही होता है।

गहराई से विचार करने के बाद सरकार ने नया बीस सूत्री कार्यक्रम तैयार किया जिसकी घोषणा प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने 14 जनवरी 1982 को राष्ट्र के नाम प्रसारित अपने संदेश में की। प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि नए कार्यक्रम में सरकार निम्नलिखित काम करेगी-

- (01) सिंचाई क्षमता में और वृद्धि की जाएगी, सूखी ज़मीन पर खेती से संबंधित तकनीकी जानकारी तथा उपकरण आदि तैयार किए जाएँगे...
- (02) दालों और तिलहन का उत्पादन बढ़ाने के विशेष उपाय किए जाएँगे।
- (03) समन्वित ग्रामीण विकास तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों को मजबूत बनाया जाएगा।
- (04) कृषि भूमि की हदबंदी की जाएगी।
- (05) खेतिहर मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी दिलाने की कारगर व्यवस्था की जाएगी और इसकी समीक्षा की जाएगी।
- (06) बंधुआ मज़दूरों का पुनर्वास किया जाएगा।
- (07) अनुसूचित जातियों और जनजातियों की भलाई के कार्यक्रम और तेज किए जाएँगे।
- (08) पीने के पानी की कमी वाले सभी गाँवों में पानी उपलब्ध कराया जाएगा।
- (09) गाँवों में जिन परिवारों के मकान नहीं हैं, उन्हें मकान के लिए ज़मीन दी जाएगी।
- (10) तंग बस्तियों की सुधार की जाएगी।
- (11) बिजली की उत्पादन बढ़ाई जाएगी, बिजली संस्थानों के कामकाज को बेहतर बनाया जाएगा और सभी गाँवों में बिजली पहुँचाई जाएगी।
- (12) पेड़ लगाने के कार्यक्रमों, सामाजिक और कृषि, वृक्षारोपण कार्यक्रम तथा गोबर गैस व ऊर्जा के अन्य साधनों के विकास के कार्यक्रमों पर मुस्तैदी से अमल किया जाएगा।
- (13) परिवार नियोजन को स्वैच्छिक आधार पर जन अभियान के रूप में चलाया जाएगा।
- (14) प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं का काफी विस्तार किया जाएगा।
- (15) महिलाओं और बच्चों के कल्याण कार्यक्रमों तथा गर्भवती महिलाओं, माताओं, बच्चों, खासकर आदिवासी व पिछड़े इलाकों में रहने वालों के लिए पौष्टिक आहार कार्यक्रम तेजी से लागू किए जाएँगे।
- (16) 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों, विशेषकर बालिकाओं के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का विस्तार।
- (17) उचित दर की दूकानों की संख्या बढ़ाकर दूर-दराज के इलाकों में चलती-फिरती दूकानों की व्यवस्था करके, कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों व छात्रावास की दूकानें खोलकर, छात्रों को पाठ्य पुस्तकें और कॉपियाँ प्राथमिकता के आधार पर उपलब्ध कराया जाएगा।
- (18) पूँजी निवेश की प्रक्रियाओं को उदार बनाया जाएगा।
- (19) तस्करो, जमाखोरों और कर की चोरी करने वालों के खिलाफ सख्त कार्रवाई की जाएगी।
- (20) सार्वजनिक क्षेत्रों के संसाधनों की कार्यकुशल क्षमता का उपयोग तथा आंतरिक साधन जुटाने की शक्ति बढ़ाकर उनकी कार्य प्रणाली में सुधार लाया जाएगा।

उपर्युक्त योजनाओं से स्पष्ट होता है कि समाज के तमाम पहलुओं पर योजनाएँ बनी हैं। सरकार निरंतर इन योजनाओं के माध्यम से समाज कल्याण एवं राष्ट्र निर्माण के अनछुए पहलुओं पर नियमावली बनाती रही है। अतः हम बीस सूत्री कार्यक्रम के माध्यम से पूर्णिया एवं बिहार के तमाम जिलों में क्रियान्वयन हेतु प्रेरणा-स्रोत आलेख प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा।

संदर्भ सूची

1. 'नया बीस सूत्री कार्यक्रम' श्रीमती इंदिरा गाँधी, विज्ञान प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा आकल्पित एवं प्रकाशित। मुद्रक-तेज प्रेस, नई दिल्ली, पृ. सं. 2, मई 1982
2. विकास के दो स्वर्णिम वर्ष, सैयद राहनवाज हुसैन, सांसद किशनगंज, 2001
3. श्री लालू प्रसाद यादव, माननीय मुख्यमंत्री, बिहार का बजट भाषण, 20 मार्च 1994-95

संवैधानिक उपबंध और नारी सशक्तिकरण के बढ़ते कदम

स्मृति कुमारी

शोधरत् छात्रा, राजनीति विज्ञान, पटना विश्वविद्यालय, पटना

महिला सशक्तिकरण आज के परिदृश्य में नारी-उत्थान के समग्रता को प्रतिनिधित्व करने वाला चर्चित और बहुआयामी दृष्टिकोण है, जिससे प्रेरित होकर समाज के प्रत्येक क्षेत्र में महिलाएँ आत्मविश्वास के साथ एक नये मुकाम पाने की ओर अग्रसर हैं। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सशक्तिकरण पुरुष-प्रधान समाज में व्याप्त हर क्षेत्र में शक्ति वितरण में असंतुलित तथा शक्ति संबंधों को चुनौति देता है। इसका उद्देश्य सामाजिक समानता स्थापित करना है। सशक्तिकरण एक नए सामाजिक परिवर्तन के निर्माण के साधन के रूप में महिलाओं को स्वयं अपने निर्णय लेने के लिए योग्य बनाती हैं। राष्ट्र निर्माण के गतिविधियों में महिलाओं की भूमिका को ध्यान में रखते हुए सरकार ने वर्ष 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया और महिलाओं को स्वशक्ति प्रदान करने की राष्ट्रीय नीति अपनायी गयी। महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, कानूनी और राजनीतिक रूप से मजबूत बनाने के लिए कई कानून बनाए गए। देश के मेरूदंड, ग्रामीण भारत की भूमिका को ध्यान में रखते हुए सरकार ने महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के साथ पंचायती राज प्रणाली को सशक्त बनाने के लिए कई कदम उठाए हैं। इससे महिलाओं में लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में निर्वाचित होने की मनोदशा पनपी, जो राजनीतिक सशक्तिकरण का भी संकेत देती है। आज महिला सशक्तिकरण देश की एक मौलिक मुद्दा के रूप में प्रतिष्ठित है, क्योंकि यह समाज में महिलाओं के व्यापक हितों के प्रश्न से जुड़ा है। निश्चित रूप से महिलाओं के प्रति इस मनोदशा एवं सबलीकरण की जड़े हमारे संवैधानिक प्रावधानों में निहित हैं।

26 जनवरी, 1950 को विधिवत रूप से भारतीय संविधान को लागू किया गया और उसी दिन से भारत गणतंत्रीय शासन व्यवस्था स्थापित हुई। दुनिया के सबसे बड़े संविधान ने भारत को लोकतंत्र, संघीय, संप्रभु, धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक गणतंत्र देश के रूप में भारत को वैश्विक पटल पर प्रतिस्थापित किया। संविधान हमारे देश का सर्वोच्च कानून है, जो अपने सभी नागरिकों में न्याय, समानता जैसे भावों को वरीयता प्रदान करता है। प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, नीति निर्देशक तत्व, मौलिक कर्तव्य इत्यादि में भारतीय नागरिकों उन सभी अधिकारों एवं कर्तव्यों से वशिभूत किया है, जो उनके सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है और जो मानवीय गुणों को समपुष्ट करता है। भारतीय संविधान की एक बहुत बड़ी खाशियत है कि यह न सिर्फ समान नागरिक अधिकारों को मान्यता देती है अपितु सदियों से शोषित-पीड़ित वर्ग समुदायों के लिए विशेष प्रावधान कर उसे समाज के मुख्य धारा में लाने का प्रयास भी करता है। इसी नजरिये और सोच के तहत संविधान ने महिलाओं के लिए भी विशेष प्रावधान किया है। भारतीय संविधान की अनेक धाराओं में यह प्रावधान किया गया है जो महिलाओं को न सिर्फ पुरुषों के बराबरी अधिकार प्रदान करता है अपितु उनके लिए विशेष उपबंध भी करता है।

प्रस्तावना, जो संविधान का आइना है, उसमें पुरुषों और महिलाओं को अलग नहीं बल्कि उन्हें समान रूप से व्यवहार करने की व्याख्या करता है। प्रस्तावना महिलाओं के विरुद्ध किसी भी प्रकार के भेदभाव को अंत करने, उनकी स्थिति एवं हालत में उत्थान और उन्नति के लिए सामान्य और विशेष प्रावधानों को शामिल करने के लिए ईमानदारी पूर्वक निर्देशित करता है। प्रस्तावना में वर्णित है कि हम, भारत के लोग, सत्यनिष्ठा से एक संप्रभु समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य में भारत का गठन करने के लिए और अपने सभी नागरिकों को सुरक्षित करने के लिए हल कर रही हैं: न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की स्वतंत्रताय स्थिति और अवसर की समानताय और उन सब के बीच में बढ़ावा देने के लिए व्यक्ति और राष्ट्र की एकता और अखंडता की गरिमा की बात करता है।²

उपरोक्त तथ्य उस सार्वभौमभाव को दर्शाता है, जिसमें की किसी भी दृष्टिकोण से स्त्री और पुरुषों के बीच लेषमात्र अंतर नहीं करता।

संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार के विभिन्न प्रावधानों में भी स्त्री को न सिर्फ पुरुषों के बराबर अधिकार की घोषणा करता है बल्कि उन्हें विशेष अधिकारों से सम्पन्न करती हैं, ताकि उनके इतिहास को बदला जाए और उन्हें विशिष्ट शक्ति एवं आत्मविश्वास से ओत-प्रोत किया जा सके। अनुच्छेद 14 में प्रावधान है कि राज्य, भारत के राज्य क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा। अनुच्छेद 15, धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध करता है। अनुच्छेद 16 लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता का प्रावधान है। मौलिक अधिकार के अनुच्छेद – 23 में नागरिकों को शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 23(1) में मानव का दुर्व्यवहार और बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य बलात् श्रम प्रतिषिद्ध किया जाता है और इस पाबंध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा। इस प्रकार भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के इन प्रावधानों के तहत न सिर्फ स्त्री को पुरुषों के समान ही कानूनी संरक्षण मिला है अपितु इसके द्वारा उनके लिए विशेष हितों को साधने का भी प्रावधान किया गया है।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में भी महिलाओं के लिए विशेष प्रावधानों की पुष्टि होती है। राज्य की नीति निर्देशक तत्व संविधान के भाग-4 और अनुच्छेद 36 से 51 तक वर्णित है। उल्लेखनीय है कि यह उपबंध किसी न्यायलय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं है किन्तु फिर भी इसमें अधिकाधिक देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।

अनुच्छेद 38 में राज्य लोक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने की बात कही गई है। अनुच्छेद 38(1) में उल्लेख किया गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था कि, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करे, भरकस प्रभावी रूप से स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा।³ इसी तरह अनुच्छेद 38(2) में राज्य विशिष्टतया, आय की असमानताओं को दूर करने का प्रयास किया करेगा और न केवल व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच प्रतिष्ठा, समानताओं और अवसर की असमानताओं को समाप्त करने का प्रयास करेगा।⁴

अनुच्छेद 39 में राज्य द्वारा अनुसरणीय नीति तत्वों का उल्लेख किया गया है, इनमें से प्रमुख है-
अनुच्छेद 39(क) – पुरुष और स्त्री सभी को समान रूप से जीविका का पर्याप्त साधन पाने का अधिकार हो।

अनुच्छेद 39(घ) – पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो।

अनुच्छेद 39(ङ) – पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक अवस्था से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयू या शक्ति के अनुकूल न हो।

अनुच्छेद 39(च) – बालकों के स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएं दी जाएं और बालकों और अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।⁵

अनुच्छेद 42 में काम की न्याय संगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने तथा प्रसूति सहायता का उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 45 में राज्य छह वर्ष की कम आयु के सभी बच्चों के पूर्व बाल्यकाल की देखरेख और शिक्षा का देने का प्रयास करेगा।⁶

मौलिक कर्तव्य में भी महिलाओं के प्रति सजगता एवं प्रतिबद्धता परिलक्षित होता है। अनुच्छेद 51 क (ङ) में इस बात का उल्लेख किया गया है कि भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा या प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं को त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हो।

संविधान के अनुच्छेद 325 में इस बात का प्रावधान है कि संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन के लिए निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचक-नामावली होगी और केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या इनमें से किसी एक के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र नहीं होगा या ऐसे किसी निर्वाचन क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने का दावा नहीं करेगा।

73 वें संविधान संशोधन के द्वारा महिलाओं के लिए विशेष पहल करते हुए स्थानीय निकायों में निर्वाचित कार्यालयों में महिलाओं के लिए कुल सीटों की एक तिहाई स्थान संसद द्वारा 1992 में पारित अधिनियम ग्रामीण क्षेत्रों या शहरी क्षेत्रों दोनों के लिए सुनिश्चित किया गया है।

अनुच्छेद 243 डी(3) में प्रावधान है कि हर पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के (अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों की संख्या भी शामिल है) में एक तिहाई से अधिक महिलाओं के लिए आरक्षित है और ऐसे में नहीं सीटों किसी पंचायत में विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों को रोटेशन से आवंटित किया जाएगा।

अनुच्छेद 243 डी (4) महिलाओं के लिए आरक्षित सीट प्रत्येक स्तर पर पंचायतों में अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या के एक तिहाई से भी कम नहीं होगी।

अनुच्छेद 243 टी (3) के प्रावधानों के अनुसार हर नगरपालिका में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के (अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिए

आरक्षित सीटों की संख्या भी शामिल है) में एक तिहाई से अधिक महिलाओं के लिए आरक्षित है और ऐसे में नहीं सीटों के एक नगर पालिका में विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों को रोटेशन से आवंटित किया जाएगा।

अनुच्छेद 243 टी (4) में प्रावधान है कि किसी राज्य की विधायिका के रूप में इस तरह के तरीके में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं के लिए नगरपालिकाओं में अध्यक्षों के पदों का आरक्षण कानून द्वारा प्रदान कर सकता है।

संविधान में वर्णित उपरोक्त प्रावधान महिलाओं को वो सभी बुनियादी अधिकार प्रदान करता है जो न सिर्फ उन्हें बराबरी का दर्जा प्रदान करता है बल्कि इन बुनियादी अधिकारों के दम पर ही वह आधुनिक समाज में अपनी अनिवार्य उपस्थिति दर्ज करा रही है, जिसके लिए वे सदियों से प्रतीक्षा कर रही थी।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से भारतीय संविधान में लैंगिक समानता के सिद्धांत इसकी प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, मौलिक कर्तव्यों और निर्देशक सिद्धांतों में उल्लेखित है। संविधान महिलाओं के लिए समानता देती है। एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के ढांचे के भीतर, हमारे कानून, विकास नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों के विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं की उन्नति के उद्देश्य से है।

संवैधानिक जनादेश को बनाए रखने के लिए, राज्य, समान अधिकार सुनिश्चित करने के लिए सामाजिक भेदभाव और हिंसा और अत्याचार के विभिन्न रूपों का मुकाबला करने के लिए और खासकर कामकाजी महिलाओं के लिए समर्थन सेवाएं प्रदान करने के उद्देश्य से विभिन्न विधायी उपाय अधिनियमित किया है।⁷ इन सब के लिए विशेष कानूनी प्रावधान किए गए हैं - ये मोटे तौर पर दो श्रेणियों में वर्गीकृत हैं -

(क) अपराध भारतीय दंड संहिता (आईपीसी) के तहत पहचाने गए

- (1) बलात्कार (धारा 376 आईपीसी)
- (2) विभिन्न प्रयोजनों के लिए (ख) के अपहरण और अपहरण (धारा 363-373)
- (3) दहेज, दहेज हत्या या उनके प्रयास के लिए (तीन) हत्या (धारा 302/304-B आईपीसी)
- (4) अत्याचार, मानसिक और शारीरिक दोनों (धारा 498ए आईपीसी)
- (5) छेड़छाड़ (धारा 354 आईपीसी)
- (6) यौन उत्पीड़न (धारा 509 आईपीसी)

(ख) अपराध विशेष कानून (SLL) के तहत पहचान

- (1) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948
- (2) बागान श्रम अधिनियम, 1951
- (3) परिवार न्यायालय अधिनियम, 1954
- (4) विशेष विवाह अधिनियम, 1954
- (5) हिंदू विवाह अधिनियम, 1955
- (6) 2005 में संशोधन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956

- (7) अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम, 1956
- (8) मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 (1995 में संशोधित)
- (9) दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961
- (10) गर्भावस्था अधिनियम की (एक्स) मेडिकल टर्मिनेशन, 1971
- (11) संविदा श्रम (विनियमन एवं उन्मूलन) अधिनियम, 1976
- (12) समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976
- (13) बाल विवाह अधिनियम के निषेध, 2006
- (14) आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम, 1983
- (15) इकाइयां (संशोधन) अधिनियम, 1986
- (16) महिलाओं के अश्लील प्रतिनिधित्व (निषेध) अधिनियम, 1986
- (17) सती आयोग (निवारण) अधिनियम, 1987
- (18) घरेलू हिंसा कानून से महिलाओं का संरक्षण, 2005

अतः कहने की आवश्यकता नहीं की भारत में महिलाओं के विकास, उत्थान, समानता, सुरक्षा आदि के लिए संवैधानिक प्रावधान है, कानून है तथा इससे उनकी स्थिति में महत्वपूर्ण और साकारत्मक बदलाव भी आ रहे हैं, परन्तु इनके बाद भी इनकी अपनी सीमाएं दिखती हैं। इसका कारण है इन संवैधानिक प्रावधानों के निष्पादन में आने वाली कठिनाइयां, जिसके लिए निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी माना जा सकता है⁸—

1. ऐसे विधायन को लागू करने में राजनीतिक इच्छा शक्ति का अभाव,
2. लोक सेवकों द्वारा पहल का अभाव तथा अपने दायित्व से बचते रहने का रवैया,
3. निष्पादन अधिकारों का अनेक कारणों से नकारात्मक रवैया,
4. प्रशासी तथा वित्तीय साधनों का अभाव,
5. सामुदायिक अंतरचेतना तथा सामुदायिक ग्राहता का अभाव,
6. निष्पादन अधिकारियों तथा विशेष कर पुलिस कर्मियों में प्रशिक्षण का न होना,
7. दहेज, जुआ, देह-व्यापार, बाल यौन अपराध यहां तक कि अस्पृशता उन्मूलन के संबंध में सामाजिक चेतना तथा जनजागृति का अभाव,
8. ऐसे कानून तथा अधिनियम तो किए गए हैं किन्तु आंचलिक सतह से जूड़े नहीं हैं, केवल कागजी श्वेत-पत्रों तक सीमित है,
9. सरकारी तंत्रों तथा एजेन्सियों के मध्य समन्वय का अभाव
10. अनभिज्ञता, अज्ञानता और निरक्षरता के कारण सामुदायिक चेतना का अभाव आदि।

सारतः हम कह सकते हैं कि महिलाओं के उत्थान, विकास, सुरक्षा एवं हितों के संवर्द्धन में संविधान में विविध प्रावधान किए गए हैं, बावजूद वांछित उद्देश्य अभी तक नहीं पाया जा सका है। जन प्रतिनिधि/सरकार शपथ तो लेते हैं, परन्तु इन विधियों को लागू करने में इमानदारी और तत्परता के अभाव के चलते उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता है। गौरतलब हो कि सात दशक बीत जाने के बावजूद भी देश में महिलाओं के लिए एक समान सिविल संहिता लागू नहीं हो पाया है और अभी भी धार्मिक

कानून के आधार पर उनके भाग्य का फैसला किया जा रहा है। सरकार को इस दिशा में गंभीरता से सोचना होगा क्योंकि संवैधानिक प्रावधानों के क्रियान्वयन का दायित्व उन्हीं पर है। हालांकि देश के लिए एक बड़ी सकारात्मक बात यह है कि महिलाओं में आ रहे जागृति, आत्मविश्वास और अपने अधिकारों के प्रति सजगता के चलते वह दिन दूर भी नहीं जब इन संवैधानिक अधिकारों का वह शत – प्रतिशत उपयोग अपने लिए कर पायेगी और सभी प्रकार के लैंगिक भेदभावों से मुक्त होंगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. S.Batliwala, Empowerment of Women in South Asia, New Delhi, 1993, p. 271.
2. प्राक्कथन जय जय राम उपाध्याय, भारत का संविधान, 1950, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी इलाहाबाद, 2004, पृ. 1.
3. संविधान का 44 वां संशोधन अधिनियम, 1978, धारा – 9.
4. पूर्वोक्त.
5. संविधान का 42 वां संशोधन अधिनियम, 1976, धारा – 7.
6. पूर्वोक्त, धारा – 8.
7. अनुच्छेद 45, संविधान का 86 वां संशोधन अधिनियम, 2002, धारा – 2.
8. रमा शर्मा एवं एम. के. मिश्रा, महिलाओं का मौलिक अधिकार, पटना, 2012, पृ. 11.

मोदी सरकार की विदेश नीति के विविध आयाम

राकेश कुमार

शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, पटना विश्व विद्यालय, पटना

जब हम प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भारत की विदेश नीति के निर्धारण की बात करते हैं तो हमें पंडित जवाहर लाल नेहरू की संसद में कही इस बात पर गौर कर लेना चाहिए। उनका कहना था- “अंततः विदेश नीति आर्थिक नीति का परिणाम होती है। हमने अब तक कोई रचनात्मक आर्थिक योजना अथवा आर्थिक नीति नहीं बनाई है...जब हम ऐसा कर लेंगे...तब ही हम इस सदन में होने वाले सभी भाषणों से ज्यादा अपनी विदेश नीति को निर्धारित कर पाएंगे।” इससे एक महत्वपूर्ण बिंदु का संकेत मिलता है कि भारत की विदेश नीति, हमारे देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसकी विशेषता एक निरंतरता है और इसमें किसी भी समय पर आमूलचूल परिवर्तन (रैडिकल चेंजेस) देखने को नहीं मिलते हैं।

अगर हम आधुनिक भारत के इतिहास पर सरसरी निगाह डालें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि मात्र सरकारें बदलने से भारत की विदेश नीति की व्यापक रूपरेखा या ढांचे में कभी भी बहुत अधिक बदलाव नहीं आया है। इसलिए हम एक प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि भारत की विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य परंपरागत रूप से क्या रहा है? इसका सीधा सा अर्थ है कि भारत एक सुरक्षित और स्थिर क्षेत्रीय पर्यावरण चाहता है क्योंकि इसके बिना भारतीय जनता की निरंतर आर्थिक वृद्धि को ऊपर ले जाना संभव नहीं होगा। इसलिए स्वतंत्रता के बाद से ही भारत सरकार का यह प्रथम उद्देश्य रहा है और तब से ही यह भारत की विदेश नीति का मूलाधार रहा है।

लेकिन, पिछले दो दशक के दौरान भारत की बढ़ती आर्थिक और सैन्य ताकत के चलते देश की सरकारों ने विदेश नीति को नया आकार देने के लिए ठोस कदम उठाए हैं। पर इसके साथ यह भी देखा गया है कि पूर्ववर्ती यूपीए शासन के दौरान विदेश नीति को अप्रभावी रूप में भी पाया गया है और बाहरी सुरक्षा चुनौतियों का माकूल जवाब नहीं दिया गया है। वर्ष 2014 के आम चुनावों में भाजपा को स्पष्ट बहुमत मिला और इसके नेता नरेन्द्र मोदी ने देश की सत्ता संभाली। भारत की समूची विदेश नीति में जहां कुछ बदलावों की उम्मीद की जा सकती है तो भाजपा ने अपने चुनावी घोषणा पत्र में कहा था कि देश की सरकार सदियों पुरानी अपनी ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की परम्परा के जरिए कुछ बदलावों को लाने की कोशिश करेगी।

भाजपा के घोषणा पत्र में कहा गया था कि भारत को अपने सहयोगियों का एक संजाल (नेटवर्क) विकसित करना चाहिए। आतंकवाद को लेकर जीरो टॉलरेंस की नीति होगी और क्षेत्र में नए भू-सामरिक खतरों का सामना करने के लिए ‘नो फ्रस्ट यूज’ (पहले हमला न करने की) परमाणु नीति की समीक्षा होगी। मोदी को जितना बहुमत मिला है, लोगों की उनसे उतनी ही ज्यादा उम्मीदें हैं। भाजपा का पिछला रिकॉर्ड और मोदी के आर्थिक मोर्चे पर काम करने वाले नेता और एक

कट्टरपंथी राष्ट्रवादी छवि के चलते देश के लोग अधिक सक्रिय विदेश नीति की लोग उम्मीद करते हैं। पर मोदी के नेतृत्व में भारत को पता है कि केवल स्थायी और ऊंची आर्थिक वृद्धि दर के बल पर भारत, चीन के साथ एशिया के पॉवर गैप को भर सकता है। इसका अर्थ यह भी है कि भारतीय अर्थव्यवस्था से भ्रष्टाचार, लालफीताशाही और घटिया बुनियादी सुविधाओं को समाप्त करना ही होगा। इस बात की संभावना है कि भारत, रूस के साथ मजबूत संबंध बनाए रखना चाहेगा। नई दिल्ली और मॉस्को के बीच सहयोग का एक लम्बा इतिहास रहा है, जो कि शीत युद्ध के शुरूआती वर्षों से शुरू हुआ था।

हालांकि कारोबार और निवेश के लिहाज से रूस बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह गया है, लेकिन वह आज भी भारत का प्रमुख शस्त्र आपूर्तिकर्ता देश है और मोदी इस रिश्ते में बदलाव नहीं करना चाहेंगे। जबकि चीन को आमतौर पर भारत का प्रमुख भू-सामरिक विरोधी माना जाता है। इस दृष्टिकोण में भी कोई बदलाव नहीं हुआ है, लेकिन फिर भी पिछले दो दशकों के बीच चीजों में बहुत बदलाव हुआ है। आज चीन, भारत का मुख्य कारोबारी सहयोगी भी है इसलिए सभी कुछ सुरक्षा और युद्ध के लिहाज से ही नहीं सोचा जा सकता है।

अब रूस भी चीन का प्रमुख शस्त्र आपूर्तिकर्ता देश है और रूस की ऊर्जा से चीन के कल कारखाने चल रहे हैं। दोनों ही देशों के बीच तीस वर्षीय गैस आपूर्ति समझौता हुआ है जो कि अरबों डॉलर का है। इसलिए समझा जा सकता है कि रूस, चीन के लिए कितना महत्वपूर्ण सहयोगी बन गया है।

जब चीन की बात आती है तो हमें सोचना होगा कि आर्थिक और सैन्य दृष्टि से भारत कमजोर है और मोदी कितने ही बड़े राष्ट्रवादी क्यों ना हों और उन्होंने दूसरे दलों के नेताओं की इस बात को लेकर कितनी ही आलोचना की हो कि वे चीन के दुस्साहस को अनदेखा कर रहे हैं, लेकिन खुद मोदी भी पेइचिंग से लड़ाई मोल लेना नहीं चाहेंगे। चीन को एक वैश्विक शक्ति उसकी आर्थिक ताकत के कारण माना जाता है और इस कारण से मोदी चाहेंगे कि भारतीय अर्थव्यवस्था मजबूत हो। अर्थव्यवस्था उनका टॉप एजेंडा इसलिए भी रहेगी क्योंकि ज्यादातर भारतीयों ने उन्हें इसलिए चुना है कि वे गरीबों की हालत में सकारात्मक परिवर्तन लाएंगे। इसलिए वे चाहेंगे कि देश के गरीब वर्ग की माली हालत में सुधार हो।

मोदी की विदेश नीति की सबसे महत्वपूर्ण चिंता पाकिस्तान होगा लेकिन वह भी इस्लामाबाद के साथ नाटकीय रूप से सख्त रुख अपनाने के पक्ष में नहीं होंगे। वे पहले ही लोगों को अपने शपथग्रहण में पाक प्रधानमंत्री नवाज शरीफ को आमंत्रित कर चौंका चुके हैं, लेकिन वे यह बात भलीभांति समझते हैं कि पाकिस्तान के साथ लगातार होने वाले टकरावों के कारण वे देश की अर्थव्यवस्था पर अधिक ध्यान नहीं दे सकेंगे। अगर पाकिस्तान के साथ लड़ाई होती है तो यह परमाणु युद्ध में भी बदल सकती है, लेकिन आतंकवादी हमले ऐसा विषय हैं जिनके कारण उन पर बहुत ज्यादा दबाव होगा। उन्हें निर्णयात्मक होना होगा क्योंकि उन्हें आतंकवादियों को संदेश भी देना होगा कि वे भारत में गड़बड़ी फैलाने से बाज आए। यह बात उनकी अपील का प्रमुख हिस्सा होगी।

हालांकि शपथ समारोह में शरीफ को बुलाने वाले मोदी ने पाकिस्तान के मामले में यूटर्न भी लिया है। उन्होंने पाक उच्चायुक्त के अलगाववादियों से मिलने के बाद सचिव स्तरीय वार्ता रद्द कर कड़ा और बड़ा फैसला भी लिया है।

मोदी के नेतृत्व में इसराइल के साथ संबंध मजबूत होंगे। आमतौर पर भाजपा और विशेष रूप से मोदी इसराइल के बड़े प्रशंसक हैं और वे मानते हैं कि भारत की परम्परागत रूप से फिलीस्तीन समर्थक नीति से भी भारत को अरब जगत में बहुत कम सदभावना मिली है। इसी तरह अरब देश महत्वपूर्ण अवसरों पर भारत के खिलाफ पाकिस्तान का समर्थन करते रहे हैं।

मोदी दो बार इसराइल की यात्रा कर चुके हैं और वे इसकी आर्थिक और तकनीकी प्रगति के बड़े प्रशंसक हैं। वे इसराइल के साथ अधिक आर्थिक सहयोग और आतंकवाद पर खुफिया जानकारी साझा करने की नीति को तरजीह देंगे। एक शस्त्र आपूर्तिकर्ता देश के रूप में इसराइल, रूस का स्थान नहीं ले सकता है, लेकिन भारत पहले से ही इसराइली हथियारों का एक बड़ा ग्राहक है। भारत, इसराइल से और अधिक हथियार और विशेष रूप से ड्रोन विमान खरीदना चाहेगा।

चीन के खतरे से बचने के लिए भारत और अमेरिका के बीच किसी संधि की बात करना एक अतिशयोक्ति ही होगी। वर्षों से नई दिल्ली और वॉशिंगटन निरंतर रूप से प्रतिरक्षा सहयोग को बढ़ाते रहे हैं और यह स्थिति चलती रहेगी, लेकिन अब कोई भी देश नहीं चाहता है कि दोनों के बीच कोई लम्बी स्थायी संधि हो। पर जिस देश के साथ मोदी सुरक्षा संबंधों को बढ़ाना चाहते हैं, वह है जापान। कांग्रेस ने दोनों देशों के बीच संबंधों की बुनियाद रखी और भाजपा इसे बढ़ाएगी। जनवरी में भारत के गणतंत्र दिवस समारोह में जापानी प्रधानमंत्री शिंजो आबे को मुख्य अतिथि बनाया गया था। मोदी ने अपने शपथ ग्रहण समारोह में भी उन्हें बुलाया था। भारत एक ऐसी एशियाई ताकत है, जो कि जापान की न्यूनतम रक्षा नीति में बदलाव से भी हतोत्साहित नहीं है।

भारत चाहता है कि चीन के पूर्वी हिस्से में उसका एक मजबूत साथी हो और वह इस भूमिका के लिए जापान को सभी तरह से उचित पाता है। अपनी आर्थिक और तकनीकी ताकत के चलते जापान समुचित भी है क्योंकि टोक्यो और नई दिल्ली चीन को एक बड़ी सुरक्षा समस्या समझते हैं। भारत एक और एशियाई देश, ताइवान, के साथ अपने संबंध मजबूत रखना चाहेगा क्योंकि यह चीन के क्षेत्रीय दावों और मंशा को लेकर सशक्त रहता है। विदित हो कि कुछ समय पहले ही दक्षिण चीन महासागर में दोनों देशों के बीच झड़पें हुई हैं।

लेकिन, विदेश नीति के मोर्चे पर मोदी से और भी बड़े परिवर्तनों की इच्छा रखने वालों को निराशा हाथ लगेगी। हालांकि मोदी मानते हैं कि भारत एक वैश्विक ताकत है लेकिन देश यह दर्जा तब तक हासिल नहीं कर सकेगा जबतक कि वह आर्थिक मोर्चे पर अपनी मजबूती नहीं दर्शाता है। इसलिए अगर मोदी कोई बड़े परिवर्तन करते हैं तो वे देश के घरेलू मोर्चे पर करने होंगे, विदेशी मोर्चे पर नहीं।

संभवतः इसी कारण से गुट निरपेक्षता और सामरिक स्वायत्तता की नीति को छोड़कर भारत ने तय किया है कि वह विदेश नीति संबंधी कोई वादे नहीं करेगा। भारत चाहता है कि उसकी विदेश नीति प्रमुख रूप से आर्थिक हितों पर आधारित हो और यह आर्थिक हित उसे पश्चिमी देशों के साथ जाने की बजाय पूर्व की ओर देखने की नीति (लुक ईस्ट पॉलिसी) का समर्थन करते हैं। इस बात को अमेरिकी और यूरोपीय लोग भी मानते हैं कि वैश्विक अर्थव्यवस्था का भावी इंजन एशिया और प्रशांत महासागर के देश होंगे। अमेरिका भी एशिया प्रशांत क्षेत्र में अपनी मौजूदगी को मजबूत बनाने के लिए बेचैन है क्योंकि वह हाल में यूक्रेन में रूसी दखलंदाजी को रोकने में सफल नहीं हुआ है।

इसी तरह मध्यपूर्व में अशांति बनी हुई और इस इलाके में अमेरिका एक सीमित हस्तक्षेप ही करना चाहता है क्योंकि इराक, लीबिया, सीरिया और पहले भी अन्य देशों में होम करते यह अपने हाथ जला बैठा है। एशिया में वह भारत को एक क्षेत्रीय ताकत के तौर पर स्थापित करना चाहता है, लेकिन इस क्षेत्र में भारत अपने को कहां तक फंसाए, यह उसकी विदेश नीति से अलग भी हो सकता है। यह कहना गलत ना होगा कि बिल क्लिंटन और जॉर्ज डबल्यू बुश के कार्यकाल में भारत और अमेरिका के बीच विभिन्न परमाणु समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए, लेकिन राष्ट्रपति ओबामा के कार्यकाल में भारत-अमेरिकी संबंधों पर पाला पड़ गया। भारतीय राजनयिक देवयानी खोबरागड़े के साथ अमेरिकी व्यवहार और अमेरिका द्वारा मोदी को बार-बार वीजा देने से इनकार करना यह बताने के लिए पर्याप्त है कि भारत-अमेरिकी संबंधों में रुग्णता कितनी गहरे तक समाई हुई है। लेकिन मोदी के अमेरिकी दौरे पर इस तरह की बातें उनके आचरण को प्रभावित नहीं करेंगी।

कुछ विश्लेषकों का मानना है कि भारत, विश्व में चीन के प्रभुत्व वाली विश्व व्यवस्था (वर्ल्ड ऑर्डर) की बजाय अमेरिका के प्रभुत्व वाली विश्व व्यवस्था को पसंद करेगा, लेकिन इसके बावजूद अफगानिस्तान को स्थिर देखने की चाहत में अमेरिका वहां भारतीय हितों को पाकिस्तान की तुलना में नजरअंदाज करता रहा है। इसलिए भारत 1990 के दशक के शुरुआत में बनाई गई लुक ईस्ट नीति को बढ़ाने को अधिक महत्वपूर्ण समझता है।

हालांकि चीन को आमतौर पर भारत का प्रमुख सामरिक प्रतियोगी माना जाता है, लेकिन चीन को मोदी से उम्मीदें हैं कि वे दोनों देशों के आर्थिक हितों को बढ़ाने का काम करेंगे। मोदी जहां देश की अर्थव्यवस्था और बुनियादी सुविधाओं के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं वहीं चीन अपने निवेश को भारत में बढ़ाने के मौके का इंतजार कर रहा है। चीन अभी भी भारत का सबसे बड़ा कारोबारी सहयोगी है और इस कारण से भारत-चीन सहयोग की वकालत की जा रही है। हालांकि मोदी चीन के साथ पारस्परिक तौर पर लाभदायक और स्थिर स्थिति को बनाना चाहेंगे ताकि चीन का पाकिस्तान के साथ सहयोग सीमित किया जा सके।

उल्लेखनीय है कि चीन में भी भारत की कई कंपनियां निवेश कर रही हैं। नरेंद्र मोदी के सामने भारत और चीन के संबंधों को लेकर जो सबसे बड़ी चुनौती है वह है दोनों देशों का सीमा विवाद। चीन, अरुणाचल प्रदेश को अपना हिस्सा बताता रहा है और इसके अलावा भारत के सीमा क्षेत्र में चीनी सैनिक कई बार कैम्प लगा चुके हैं। ब्राजील में दोनों के बीच कई मुद्दों पर बातचीत भी हुई थी और शी चिनपिंग के साथ अपनी द्विपक्षीय वार्ता को मोदी ने बेहद सफल करार दिया था।

दोनों नेताओं के बीच जहां मुलाकात के लिए जहां 40 मिनट की समय सीमा तय थी, लेकिन यह मुलाकात करीब 80 मिनट तक चली थी। इस दौरान सीमा विवाद से लेकर द्विपक्षीय व्यापार और ब्रिक्स बैंक जैसे तमाम मुद्दों पर बात हुई। दोनों पक्ष सीमा संबंधी विवाद को सुलझाने के लिए 17 दौर की विशेष प्रतिनिधि स्तर की वार्ता कर चुके हैं, लेकिन बातचीत आगे ही बढ़ती जाती है और इसका कोई ठोस नतीजा सामने नहीं आता है। क्योंकि जहां भारत का कहना है कि यह विवाद 4057 किलोमीटर की वास्तविक नियंत्रण रेखा से जुड़ा हुआ है वहीं चीन का दावा है कि यह केवल अरुणाचल प्रदेश के 2000 किलोमीटर क्षेत्र तक सीमित है, जिसे वह दक्षिणी तिब्बत बताता है। इसका अर्थ यह है कि चीन की निगाह अरुणाचल प्रदेश पर है, जिसे वह येन केन प्रकारेण हथियाने की कोशिशें करता रहेगा।

प्रधानमंत्री मोदी जापान से नजदीकी बढ़ाने की कोशिश में है। जापान भी भारत से व्यापारिक रिश्तों को मजबूत करना चाहता है। विदित हो कि जापान भारत में उसी पैमाने पर निवेश करना चाहता है जैसा कि 80-90 के दशक में उसने चीन में किया था। अब चीन के साथ तनातनी के माहौल में जापान भारत में एक कारगर विकल्प देख रहा है। जापान अच्छी तरह जानता है कि भारत में उसके निवेश से जापान की आर्थिक व्यवस्था में सुधार संभव है।

मोदी को जुलाई के पहले हफ्ते में जापान दूर पर जाना था लेकिन उससे पहले जापानी उद्योग जगत ने भारत के सामने कुछ मांगें रख दीं। जापानी अपने उद्योग प्रतिनिधियों, स्टाफ के लिए वीजा पॉलिसी को उदार बनाने और वहां के वकीलों को भारत में काम करने की इजाजत देने की मांग कर रहे हैं ताकि जापानी निवेशकों और पेशेवर लोगों का भारत पर भरोसा गहरा हो सके। संभावना है कि इस मामले में दोनों देश मिलकर कोई रास्ता निकालेंगे।

मोदी को दोनों ही, अमेरिका और रूस के साथ रिश्तों को मजबूत बनाने और दोनों को एक साथ साधने की चुनौती है। अमेरिका मोदी से मिलने के लिए उतावला है और इसी के परिणामस्वरूप जो देश उन्हें वीजा नहीं दे रहा था, उसके राष्ट्रपति बराक ओबामा ने उन्हें अमेरिका आने का न्योता दिया। दोनों देशों के बीच कारोबारी साझेदारी बढ़ाने के संकेत देने के लिए ओबामा ने 26 मई, 2014 के बाद से अब तक अपने दो उच्चस्तरीय मंत्रियों को भारत भेजा है, जबकि स्वयं मोदी की अमेरिका यात्रा 30 सितंबर से होगी।

दोनों देशों के बीच रणनीतिक वार्ता की जमीन तैयार करने के लिए अमेरिकी विदेश मंत्री जॉन केरी ने भी मोदी को अमेरिका आने का न्योता दिया। दूसरी तरफ रूस भी भारत के साथ होते प्रगाढ़ संबंधों को लेकर खुशी जता चुका है। प्रधानमंत्री ने रूस के राष्ट्रपति पुतिन के साथ मुलाकात के दौरान उन्होंने रूस के साथ रक्षा, ऊर्जा क्षेत्रों में विशेष रणनीतिक साझेदारी को व्यापक बनाने की बात कही है। उन्होंने राष्ट्रपति पुतिन की आगामी दिसंबर में होने वाली उनकी भारत यात्रा के दौरान कुडनकुलम परमाणु बिजली संयंत्र का दौरा करने के लिए आमंत्रित किया। विदित हो कि तमिलनाडु के कुडनकुलम में परमाणु बिजली संयंत्र रूस के सहयोग से स्थापित किया गया है।

मोदी के लिए एक बड़ी चुनौती बांग्लादेश, श्रीलंका जैसे देशों को भारत के करीब लाने की भी है। भारत और बांग्लादेश के बीच चला आ रहा समुद्री सीमा विवाद भी खत्म हो गया है। संयुक्त राष्ट्र के एक न्यायाधिकरण ने विवादित क्षेत्र का लगभग 80 फीसदी हिस्सा बांग्लादेश को देने का फैसला किया है। फैसले के तहत दोनों देशों के बीच विवाद में फंसे बंगाल की खाड़ी के 25000 वर्ग किलोमीटर के इलाके का 19500 किमी का क्षेत्र बांग्लादेश को दिया गया और करीब छह हजार किमी का क्षेत्र भारत के हिस्से में आया है। दूसरी तरफ भारत ने श्रीलंका से रिश्ते सुधारने के लिए नाराज तमिल लोगों को मनाने की कोशिश करने का आग्रह किया है। विदित हो कि मोदी के शपथग्रहण समारोह में तमिल श्रीलंका के राष्ट्रपति महिंदा राजपक्षे की उपस्थिति दोनों देशों के रिश्ते को बेहतर होते रिश्ते का सबूत है और उम्मीद की जाती है कि राजपक्षे तमिलों के घावों पर मरहम लगाने की जरूरत को समझेंगे और इस दिशा में वांछित कदम उठाएंगे।

प्रधानमंत्री मोदी अपनी कथनी के साथ-साथ अपनी करनी से देश के लोगों पर अपनी छाप छोड़ने की कोशिश करते हैं। पिछले माह जब वे ब्राजील में ब्रिक्स देशों के सम्मेलन से वापस लौट रहे थे और उनके विमान में ईंधन भरने के लिए फ्रैंकफर्ट में तीन घंटों के लिए रुके। तब उन्होंने

अपने अधिकारियों से कहा कि रात में कोई फाइव स्टार स्टे नहीं होगा। मोदी के साथ होटल तक केवल दो अधिकारी गए और मोदी ने होटल में स्नान किया। डेलीगेशन के बाकी अधिकारी लाउंज में बैठकर अपने लैपटॉप पर मीटिंग के ब्रीफ बनाते रहे।

उनके साथ नेपाल जाने वाले प्रतिनिधिमंडल में केवल पचास लोग ही थे। उल्लेखनीय है कि जब मार्च में पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने म्यांमार की राजधानी नेपीदा की यात्रा की थी तब उनके साथ 90 लोग शामिल थे। मनमोहन की यात्रा पर विदेश मंत्री सलमान खुर्शीद साथ होते थे, लेकिन मोदी के बोइंग बिजनेस जेट में विदेश मंत्री सुषमा स्वराज साथ नहीं होती हैं। मनमोहन के सुरक्षा अधिकारियों की संख्या भी 21 तक रही है। जब उनकी विदेश यात्रा होती तो पीएमओ में आईएएस भी प्रधानमंत्री के दल में शामिल होते, लेकिन मोदी के साथ ऐसा नहीं होता है। जिस आदमी की जरूरत होती है, केवल वही उनके डेलीगेशन का हिस्सा होता है।

पूर्व प्रधानमंत्री वाजपेयी के समय में भी यही हाल था, लेकिन मोदी 'नो ननसेंस बिजनेस' पसंद करते हैं। मोदी ने एक और परम्परा डाली है कि वे अपने प्रत्येक विदेशी दौरे की जानकारी सरकार के सभी हिस्सों को उपलब्ध कराते हैं ताकि सभी को जानकारी हो कि यात्रा से क्या हासिल हुआ और क्या नहीं। मोदी को नेपाल में एक अरब डॉलर की मदद की घोषणा करनी थी। पिछले पांच वर्षों में यह दूसरा मौका है जब भारत ने किसी देश को इतनी बड़ी धनराशि दी।

यूपीए सरकार ने 2010 में शेख हसीना सरकार को एक अरब डॉलर की मदद दी थी, लेकिन बांग्लादेश और नेपाल को दी गई मदद में अंतर था। ढाका को जो मदद दी गई थी वह सशर्त क्रेडिट थी और इससे तहत बांग्लादेश की सरकार को भारतीय कंपनियों को एक अरब डॉलर के आदेश देने थे। लेकिन मोदी ने नेपाल को जो मदद दी थी, उससे नेपाल सरकार जो चाहे कर सकती थी। लेकिन इसका हिसाब-किताब भारतीय अधिकारी भी रखेंगे और इस राशि से संबंधित परियोजनाओं के चरणों के पूरा हो जाने के बाद उन्हें आगे की किश्त की राशि मिलेगी।

मोदी किस तरह विदेश में अपनी बात कहते हैं, इसके एक उदाहरण पर गौर करें। जब बात आई कि मोदी अपने नेपाली समकक्ष को क्या भेंट करेंगे तो कहा जाता है कि मोदी ने 'संविधान' की एक प्रति की मांग की। उल्लेखनीय है कि 'संविधान' एक डॉक्यूमेंट्री ड्रामा है जो कि 11 घंटा लम्बा है और इसे श्याम बेनेगल ने बनाया है। उन्होंने इसे विशेष तौर पर राज्यसभा टीवी के लिए बनाया था। यह भारत के संविधान के निर्माण पर आधारित है। जब मोदी, सुशील कोइराला से मिले तो उन्होंने 'संविधान' की एक प्रति प्रधानमंत्री को और दूसरी प्रति संविधान सभा को भेंट की। यह मोदी का नेपाल की सरकार को बताने का तरीका था कि वे जल्द से जल्द देश का एक संविधान बना लें।

औपनिवेशिक भारत में महिला-कानूनों की पृष्ठभूमि

राजेश कुमार प्रज्जवल

यू०जी०सी०-सीनियर रिसर्च फेलो, पीएच०डी० रिसर्च स्कॉलर,
इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सारांश

भारतीय समाज में महिलाएँ अपने अज्ञानता एवं परंपरा के कारण सदियों से कई बुराइयों एवं कुप्रथाओं के प्रपीड़न से त्रस्त थीं। औपनिवेशिक काल में भारतीय सामाजिक व्यवस्था काफी दयनीय थी। भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति सबसे निम्न थी। समाज धार्मिक अंधविश्वासों एवं सामाजिक कुरीतियों से जकड़ा हुआ था। हिन्दू समाज बुराइयों, बर्बरता एवं अंधविश्वासों से ओत-प्रोत था। लड़की का जन्म अपशकुन एवं उसका विवाह बोझ समझा जाता था। जन्म के पश्चात बालिकाओं की हत्या कर दी जाती थी। स्त्रियों का वैवाहिक जीवन अत्यंत दयनीय एवं संघर्षपूर्ण था। यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती थी तो उसे बलपूर्वक पति की चिता में सती होने के लिए जलने को बाध्य किया जाता था। सौभाग्यवश यदि कोई स्त्री इस क्रूर प्रथा से बच जाती थी तो उसे शेष जीवन अपमान, तिरस्कार, उत्पीड़न एवं दुःख में बिताने पर बाध्य होना पड़ता था। इस प्रकार परंपराओं और धर्म के नाम पर महिलाओं का निरंतर शोषण किया जा रहा था। परंतु औपनिवेशिक शासन ने अपनी महत्वाकांक्षावश भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक मामलों में गैर-हस्तक्षेप की नीति अपनाती रही।

औपनिवेशिक शासन के दौरान राजा राम मोहन राय, चन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फूले, आदि जैसे कई समाज सुधारकों ने महिलाओं के उत्थान के लिए लड़ाइयाँ लड़ीं। इन समाज सुधारकों ने 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के दौरान समाज में फैले कई कुप्रथाओं एवं बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। इनमें बाल-विवाह प्रथा, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, वेश्यावृत्ति, बालिका हत्या आदि शामिल हैं। साथ ही इन समाज सुधारकों के प्रयासों के फलस्वरूप ही अनेक कानून जैसे विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, सती प्रथा उन्मूलन अधिनियम, उम्र का सहमति अधिनियम, हिन्दू स्त्रियों का संपत्ति अधिकार अधिनियम, बाल विवाह अवरोध अधिनियम, हिन्दू विवाह कानून, हिन्दू उत्तराधिकार कानून, शरियत एप्लिकेशन कानून, मुस्लिम विवाह विलयन अधिनियम आदि पारित किये गये।

स्पष्टतः औपनिवेशिक काल में समाज-सुधारकों एवं अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से महिलाओं की दशा में सुधार अवश्य हुए। पाश्चात्य देश की तरह भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार से भारतीय संस्कृति में एक नयी जागृति फैली। ब्रिटिश शासन के दौरान हुए सामाजिक एवं कानूनी सुधारों ने महिलाओं को अपनी परंपरागत छवि से निकलने का एक अवसर प्रदान किया। इन्हीं परिस्थितियों के आलोक में प्रस्तुत शोध पत्र में औपनिवेशिक भारत में महिला-कानूनों की पृष्ठभूमि पर चर्चा करते हुए संक्षिप्त परिचय को विस्तार रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आधार शब्द: औपनिवेशिक, शासन, स्त्री, परंपरा, कुप्रथा, कानून, सुधार, अधिनियम, अधिकार, शिक्षा।

भारत में कानूनी अधिकार प्राप्त करने की दिशा में महिलाओं की संघर्ष की एक लंबी यात्रा रही है। औपनिवेशिक शासन के सामने प्रारंभिक समाज सुधारकों ने महिलाओं की सुरक्षा के लिए कानूनों को लाने की बात की। आरंभिक पचास वर्षों के दौरान औपनिवेशिक शासन भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में तटस्थता और गैर हस्तक्षेप की नीति अपनाती रही। भारतीय महिलाएँ अपनी अज्ञानता के कारण कई सामाजिक बुराइयों एवं कुप्रथाओं को सदियों से झेलती आ रही थी। परंतु औपनिवेशिक शासक अभी भी मूक दर्शक की भूमिका ही निभा रहे थे। दरअसल औपनिवेशिक शासन बहुत ही बुद्धिमतापूर्वक भारतीय परंपराओं से दूर रहकर अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को आगे बढ़ाने पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित कर रहा था। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में हस्तक्षेप करना उनके द्वारा स्थापित नये शासन व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न कर सकता है। वे अभी अपना सारा ध्यान अपने प्राथमिक उद्देश्य व्यापार और वाणिज्य पर केन्द्रित रखना चाह रहे थे। नए आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना, आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा पद्धति और चिन्तन शैलियों के प्रसार आदि के फलस्वरूप भारत में प्रजातांत्रिक जागरण का आगाज हुआ। उसी के एक अभिव्यक्ति के रूप में नारी मुक्ति आंदोलन की शुरुआत हुई। (देसाई, 1976; पृ०-218)

1813 के चार्टर अधिनियम ने कंपनी के भारतीय व्यापार के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। इस अधिनियम ने भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र को भी एक नयी दिशा प्रदान की। इसके अंतर्गत ईसाई मिशनरियों को भारत में प्रवेश करने की छूट मिल गई। इस प्रकार ईसाई मिशनरियों ने बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा की नींव रखी। अंग्रेजी शिक्षा ने महिलाओं की स्थिति में सुधार एवं व्यक्तित्व में विकास लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। परिणामस्वरूप विभिन्न समाज सुधारकों ने भारतीय समाज में फैले बुराइयों एवं कुप्रथाओं के खिलाफ एक अभियान छेड़ दिया। (Towards Equality Report; P. 50-51)

औपनिवेशिक शासन के दौरान राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, आदि जैसे कई समाज सुधारकों ने महिलाओं के उत्थान के लिए लड़ाइयाँ लड़ीं। उनका एक लक्ष्य यह भी था कि भारतीय नारी जिन सामाजिक और न्यायिक विषमताओं एवं अनीतियों की शिकार है, उन्हें दूर किया जाए। इन समाज सुधारकों ने 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में प्रचलित बाल-विवाह प्रथा पर गहरी चिंता व्यक्त की। बाल-विवाह के कारण स्त्रियाँ कभी-कभी जल्दी विधवा हो जाती थी। (श्रीवास्तव, 2009; पृ०-20) विधवाओं की स्थिति को सुधारने में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के संघर्ष का परिणाम विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 के रूप में सामने आया। सती प्रथा के अंतर्गत पति के मरने पर विधवा को पति के लाश के साथ चिता पर जल कर मरना होता था। राजा राममोहन राय के प्रयासों के कारण सन् 1829 में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने सती प्रथा का उन्मूलन किया। (कुमार, 2009; पृ०-27) गरीब माँ-बाप के लिए लड़की की शादी काफी महंगी होते जा रही थी, इसलिए माँ-बाप प्रायः नवजात बच्चियों की हत्या कर देते थे। सन् 1870 में कानून बनाकर बालिका हत्या पर पाबंदी लगायी गयी। (जोशी, 2015; पृ०-87) सन् 1881 के 'फैक्ट्री एक्ट' के तहत पहली बार महिलाओं के काम को 11 घंटे नियत किया गया। (राबर्ट्स, 1955; पृ०-363) महिलाओं के संदर्भ में महत्वपूर्ण अधिनियम 'उम्र का सहमति अधिनियम' (Age of Consent Act) 1891 में पास हुआ। इस अधिनियम के अन्तर्गत कम उम्र की लड़की के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करने को बलात्कार माना गया। (Nair, 1996. p. 83) भारतीय दंड विधान द्वारा मंजूरी की उम्र 10 वर्ष निर्धारित की गयी। बाद में उम्र में संशोधन कर मंजूरी की उम्र को 12 वर्ष निर्धारित की गयी। (देसाई और ठक्कर, 2011; पृ० 105-106)

भारतीय समाज में पर्दा प्रथा और मंदिरों में वेश्यावृत्ति जैसी बुराइयाँ भी प्रचलित थी। मुसलमानों में ही नहीं, हिन्दुओं के कुछ वर्गों में भी पर्दा जैसी घातक और हानिकारक प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के अंतर्गत औरतें मानो जिन्दगी भर के लिए कैद में डाल दी गई हों। उसकी स्वभावतः तीव्र ज्ञानेंद्रियाँ निष्क्रियता के कारण सुस्त पड़ गयी हों, जब तक ज्ञान का प्रकाश उन तक नहीं पहुँच पाता तब तक वे समाज के रीति-रिवाज के नाम पर अपनी अज्ञानता एवं पूर्वाग्रह में पड़ी रहती है।

महिला आंदोलनों ने पर्दा प्रथा के विरुद्ध इस बात पर जोर दिया कि पर्दा का सामाजिक प्रगति, शरीर और मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सामाजिक जीवन के उत्थान में अगर औरतों को अपनी भूमिका अदा करनी है और अपने कर्तव्यों एवं दायित्व को पूरा करना है तो उन्हें लड़कों की तरह प्रशिक्षित होना पड़ेगा। इस प्रकार महिलाओं की गतिशीलता को रोकने वाले पर्दा प्रथा का अन्त होना चाहिए।

मंदिरों में वेश्यावृत्ति की प्रथा नए भारत को अतीत से विरासत में मिली थी। देवदासियों की एक 'वंशानुगत जाति' ही थी, जो बचपन से ही मंदिर सेवा में समर्पित हो जाती थी। डॉ० मुतुलक्ष्मी रेड्डी और अन्य समाज सुधारकों के सतत प्रयत्न के फलस्वरूप, सन् 1925 में एक एक्ट पारित हुआ और दंड संहिता के कुछ धाराएँ भी बनीं, जिनके अनुसार नाबालिग लड़कियों का अवैध अनैतिक व्यापार को दंडनीय बनाया गया और यह कानून देवदासियों पर भी लागू हुई। (देसाई, 1976; पृ० 220-221)

बाल विवाह भी हिन्दू समाज में एक प्रमुख सामाजिक बुराई के रूप में मौजूद थी और इससे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक नुकसान था। ईश्वरचंद्र विद्यासागर के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1960 में एक अधिनियम पारित हुआ, जिसके अनुसार विवाहित और अविवाहित लड़कियों के लिए सहमति की उम्र को बढ़ाई गई। बाल विवाह के इस हानिकारक रिवाज के विरुद्ध निर्णायक कदम सन् 1929 में उठाया गया। इस वर्ष पारित किये गये 'शारदा एक्ट' अर्थात् 'बाल विवाह अवरोध अधिनियम, 1929' (Child Marriage Restraint Act, 1929) में विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाकर लड़कियों के लिए 14 वर्ष और लड़कों के लिए 18 वर्ष कर दी गई। (उपरोद्धृत; पृ०-220)

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में कई स्थानीय और राष्ट्रीय महिला संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ। इन संगठनों ने सामाजिक सुधारों के साथ-साथ मत देने का अधिकार भी मांगा। महिलाओं के सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक उत्थान के लिए काम करने वाले संगठनों में 1926 में स्थापित आल इंडिया वीमेन्स कान्फ्रेंस सबसे आगे था। 1929 में, बाल विवाह पर रोक कानून को पास करवाने के बाद ये संगठन तलाक, उत्तराधिकार, संपत्ति के अधिकार के मामले उठाने लगे। 1934 में ऑल इंडिया वीमेन्स कान्फ्रेंस ने हिंदू कोड का प्रस्ताव पास किया। 1937 में "हिन्दू स्त्रियों का संपत्ति अधिकार अधिनियम, 1937" (Hindu Women's Right to Property Act, 1937) पास हुआ। 1934 से 1951 तक हिन्दू कोड पर बहस चलती रही। अत्यधिक विरोध के कारण नेहरू को कानून बनाने की प्रक्रिया रोकनी पड़ी। सन् 1955 में हिंदू विवाह कानून, सन् 1956 में हिंदू उत्तराधिकार कानून, हिंदू अल्पवयस्क और संरक्षण कानून तथा हिंदू गोद लेने तथा पालने का कानून बना। (जोशी, 2015; पृ० 87-88)

हिंदू कानूनों की भांति अंग्रेजों ने मुस्लिम कानून को भी सूचीबद्ध करने की कोशिश की। सन् 1773 में अरबी कानूनी संहिताओं का अंग्रेजी अनुवाद करने की कोशिश की गयी लेकिन इस्लामी कानूनों की क्लिष्टता के कारण इसको बीच में छोड़ दिया गया। अंग्रेजी न्यायालयों में हिन्दू-मुस्लिम दोनों के विवादों के फैसले स्थानीय परंपरा के आधार पर होने लगे। इस प्रकार मुसलमान कुछ मामलों

में तो स्थानीय रीति-रिवाजों, परंपरा का अनुसरण करते थे तो कुछ मामलों में इस्लामी कानूनों का। इनके चुनाव में वर्गाहित तथा पितृसत्ता का हित अहम भूमिका निभाते थे। सन् 1937 का शरियत एप्लिकेशन कानून (Muslim Personal Law (Shariat) Application Act, 1937) को इस विधि के दोहरेपन को समाप्त करने के लिए बनाया गया। इसके पश्चात सारी मुसलमान स्त्रियाँ मुस्लिम निजी कानून के तहत आ गयीं। इस विधेयक में मुसलमान स्त्री को उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया था, जिसका जमींदारों ने विरोध किया। जिन्ना ने विधेयक का समर्थन तो किया परन्तु कृषि क्षेत्र में इसके प्रभाव क्षेत्र उन्हीं स्थानों तक सीमित कर दिया जहाँ पहले से ही इस प्रकार के नियम और कानून थे। सन् 1939 में मुस्लिम विवाह विलयन अधिनियम (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) बना। इसमें तलाक लेने वाली स्त्री का मैहर का अधिकार समाप्त कर दिया गया। निर्वाह धन भी सीमित कर दिया गया। इस कानून की मुख्य चिंता तलाक लेने के लिए मुसलमान स्त्रियों को धर्म परिवर्तन से रोकना था न कि उनको आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना। इस कानून के बनने से पहले भी जहाँ पर कुरान की मान्यताओं के आधार पर न्याय अंग्रेजी हुकूमत के हितों के प्रतिकूल जाता था वहाँ पर प्रशासकों और न्यायधीशों ने कुरान की अनदेखी कर मुसलमान स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा। इतना ही नहीं औपनिवेशिक सरकार ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक और बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में अपने साम्राज्यवादी हित साधने के लिए खुलेआम रूढ़िवादी, जातिवादी, जमींदारों, पूंजीपतियों तथा सांप्रदायिक ताकतों का समर्थन लिया। इनको खुश करने के लिए महिला सम्बन्धी प्रगतिशील कानूनों को पास करने में रुकावटें डालीं। (Chhachhi, 1994. p. 82)

सन् 1917 में कई महिला संगठनों ने महिलाओं के मताधिकार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मुद्दे को अपने कार्यक्रमों में शामिल किया। इसी वर्ष पहली बार वीमेन्स इंडियन एसोसिएशन द्वारा महिलाओं के मताधिकार के प्रश्न को उठाया गया। सन् 1917 में ही श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में महिलाओं का एक शिष्टमंडल श्री माटेग्यू, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया से मिला और महिलाओं के लिए मताधिकार की मांग की। औपनिवेशिक काल के दौरान नारी उत्थान की दिशा में अनेक प्रयास हुए, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में महिलाओं के साथ भेदभाव बना रहा। उसे न तो मताधिकार प्राप्त था और न ही चुनाव लड़ने का अधिकार। शिक्षित नारियों ने इसका पुरजोर विरोध किया। फलस्वरूप डॉ० एनी बीसेंट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती मार्गरेट कजिस, डॉ० मुथुलक्ष्मी रेड्डी, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित आदि महिलाओं के प्रयत्नों से सन् 1926 में कुछ प्रांतों में अधिनियम पास कर महिलाओं को मतदान के सीमित अधिकार व चुनाव में भाग लेने के अधिकार प्रदान किये गये। सन् 1926 में पहली बार महिलाओं ने चुनाव में भाग लिया। परन्तु आम चुनाव के बाद 1927 ई० में कुछ थोड़ी-सी महिलाएँ ही विधानसभाओं तक पहुँचने में कामयाब हो पायीं। (व्होरा, 1983; पृ० 13-14) 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में महिलाओं को आम चुनावों में मत देने तथा चुनाव लड़ने का अधिकार दे दिया गया। (काश्यप, 1996; पृ०-140)

स्पष्टतः औपनिवेशिक शासन के दौरान अंग्रेजी सरकार ने न्यायालयों द्वारा प्रशासित नये कानूनी व्यवस्था के दायरे में भारतीय स्त्रियों को बांध दिया। कानूनों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ जाति पंचायतें कहीं-कहीं निष्क्रिय हो गयीं तो कहीं स्त्रियाँ शक्ति के दोहरे दबाव में आ गयीं। जहाँ जाति पंचायत उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी को परंपरागत नियमों के आधार पर नियंत्रित कर रही थी, वहीं पर संपत्ति सम्बन्धी मामले, सरकारी कानूनों के अनुसार न्यायालयों में निपटाए जा रहे थे। हालांकि ऊपरी तौर पर दोनों व्यवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न लगती थीं, लेकिन व्यवहार में दोनों ने ही

पारिवारिक और संपत्ति मामलों में पितृसत्ता को ही मान्यता प्रदान करती थी। सदियों से जाति के नियमों के अनुसार स्त्रियों को अपने स्वयं के बारे में निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त था, उनको न्यायालय में सार्वजनिक नैतिकता के नाम पर गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। अंग्रेज तथा कुलीन ब्राह्मण, जो या तो न्यायधीश थे या वकील, आपसी सहयोग से काम कर रहे थे। अंग्रेज और उच्च वर्गीय भारतीय न्यायाधीश दोनों को निम्न वर्ग के रीति-रिवाजों से कोई सहानुभूति नहीं थी। वे इन वर्गों के लोगों को अज्ञानी तथा कानून से अनभिज्ञ मानते थे। वे समाज के सभी वर्गों के लिए बने कानून में एकरूपता लाने के पक्षधर थे ताकि न्यायिक प्रक्रिया में सुविधा हो। इनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ऊँची जाति की विधवाओं को पुनर्विवाह की सुविधा कानून ने तो दे दी। लेकिन निम्न जाति की महिलाओं के लोक परंपरा से प्राप्त पूर्व पति के संपत्ति पर गुजर-बसर के अधिकार को छीन लिया। इस प्रकार ऊँची जाति की स्त्रियों को थोड़े से कानूनी अधिकार देकर नीची जाति की स्त्रियों को संपत्ति सम्बन्धी पारंपरिक सुविधाओं से वंचित कर परंपरागत ब्राह्मणी पितृसत्ता को ही मजबूत किया गया। इस प्रकार औपनिवेशिक काल में समाज-सुधारकों एवं अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से महिलाओं की दशा में किंचित सुधार अवश्य हुआ, किन्तु यह अपेक्षा के अनुरूप नहीं रहा। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भारतीय नारी के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार जारी रहा। पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों को वरीयता दी जाती रही। पुरुषों के तरह महिलाओं को शिक्षा एवं रोजगार के अवसर प्राप्त नहीं हुए। फिर भी औपनिवेशिक काल में हुए शिक्षा का प्रसार एवं कानूनी सुधारों ने महिलाओं के जीवन को एक नयी दिशा एवं ऊर्जा प्रदान की, जिससे महिलाएँ अपने जीवन में सुदृढ़ता पाने में सफल हो पायीं।

संदर्भ सूची (References)

1. देसाई, ए० आर०, *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1976
2. *Towards Equality: Report of the National Committee on the status of Women in India*, Govt. of India, Ministry of H.R.D., Deptt. of Social Welfare, New Delhi, 1974
3. श्रीवास्तव, श्रीमती सुधा रानी, *भारत में महिलाओं की वैधानिक स्थिति*, कॉमनवेलथ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2009
4. कुमार, राधा, *स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800-1900)*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
5. जोशी, डॉ० गोपा, *भारत में स्त्री असमानता*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2015
6. राबर्ट्स, पी०ई०, *ब्रिटिश कालीन भारत का इतिहास*, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1955
7. Nair, Janki, *Women and Law in Colonial India: A Social History*, Kali for Women, New Delhi, 1996
8. देसाई, नीरा, ठक्कर, उज्जा, *भारतीय समाज में महिलाएं*, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2011
9. Chhachhi, Amrita, *Identity Politics, Secularism and Women: A South Asian Perspective in Foreign Identities*, Zoya Hasan ed., 1994
10. व्होरा, आशारानी, *भारतीय नारी: दशा और दिशा*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983
11. काश्यप, डॉ० सुभाष, *भारत का सांविधानिक विकास और संविधान*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996
12. प्रमार, शुभ्रा, *नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार*, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2015
13. कान्त, अंजनी, *महिला एवं बाल कानून*, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 2005
14. Agnes, Flavia, *Law And Gender Inequality: The Politics of Women's Rights in India*, New Delhi, 1999
15. Kapur, Ratna, Cossman, Brenda, *Subversive Sites: Feminist Engagement with Law in India*, Sage Publications, New Delhi, 1996.

मौर्योत्तर काल में जातियों का विकास

सुबोध कुमार गुप्ता

शोध छात्र, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

संपूर्ण समाज परंपरागत चार वर्णों में विभाजित था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। शुंग और सातवाहन वंश के शासक ब्राह्मण थे। अतएव उनके शासन-काल के समय में चार वर्णों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ स्थिति होना स्वाभाविक था। तत्कालीन स्मृतियों से ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता का पक्षपोषण हो जाता है। उदाहरण के लिए 'मनुस्मृति' में स्पष्ट शब्दों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की पुष्टि की गयी है। मनु के अनुसार ब्राह्मणों को प्राणदंड की सजा नहीं दी जा सकती थी। ब्राह्मणों के लिए शूद्र का भोजन वर्जित था। शूद्र अध्यापकों की मनु चर्चा करते हैं, किंतु फिर भी वे शूद्र और दासों में कोई अंतर नहीं देख पाते। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है। यदि हम इसके विपरीत मौर्य युग की प्रख्यात विचारक की सुविख्यात रचना अर्थात् कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में शूद्रों के विषय में देखते हैं तो उसमें स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि कौटिल्य शूद्रों को दास बनाना वर्जित ठहराते हैं—'त्वेवार्यस्य दास भावः।

इसी प्रकार 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में भी हमें शूद्रों के प्रति उदार दृष्टिकोण दिखलायी पड़ता है। इसके अनुसार शूद्रों को कृषक, कारीगर एवं व्यापारी बनने की स्वीकृति प्रदान की गयी है। मनु ने विपत्ति के समय निर्वाह के लिए 10 ऐसे व्यवसाय बताये हैं, जो सभी वर्णों के लोग कर सकते हैं—(1) अध्ययन (2) शिल्पकर्म (3) मजदूरी (4) सेवा (5) पशुपालन (6) व्यापार (7) कृषि (8) सन्तोष (9) भिक्षा और (10) ब्याज लेना। 'अभिजन' या सत्ताभोगी दृष्टि से सातवाहन युग में समाज का एक अन्य वर्गीकरण भी दिखलायी पड़ता है।

यह वर्गीकरण इस प्रकार है (1) प्रथम वर्ग में सामन्त एवं शासक वर्ग के लोग थे, जिन्हें 'महाराज', 'महारथी' तथा 'महा सेनापति आदि उपाधियां प्राप्त थीं। (2) दूसरा वर्ग मंत्री, कोषाध्यक्ष अन्य उच्च राजपदाधिकारी आदि का था (3) तीसरा वर्ग लेखकों विद्वानों, वैद्यों, ज्योतिषियों आदि का था (4) चौथा वर्ग स्वर्णकारों, शिल्पियों एवं कृषकों आदि का था। सामाजिक दृष्टि से इस युग की अन्य विशेषता विदेशी जातियों का भारत की सामाजिक व्यवस्था में विलयन था। भारतीय समाज में यवन, पल्लव, शक आदि जातियों के प्रवेश से कुछ समस्याएं उत्पन्न हो गयी थीं।

भारतीय धर्मों को इन जातियों ने अंगीकार कर लिया था। इन लोगों में अधिकांश ने परंपरागत हिन्दू धर्म के किसी-न-किसी संप्रदाय को स्वीकार कर लिया अर्थात् कुछ शैव मतावलम्बी हो गये थे, कुछ ने वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया था, कुछ ने बौद्ध तथा कुछ ने जैन। उनके भारतीय समाज में प्रवेश करने में तत्कालीन समाज के सूत्रधारों को कोई आपत्ति नहीं थी। उदाहरण के लिए 'भागवत पुराण' में कहा गया है कि ये जातियां विष्णु पूजन से पवित्र हो गयी हैं और यदि विदेशी जातियां विष्णु पूजन करती हैं तो पवित्र हो जाती हैं।

वैष्णव धर्म ने इस प्रकार इन जातियों को ब्राह्मणधर्मी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत समावेशन एवं समायोजन का मार्ग बताकर हिन्दू समाज के द्वार उन लोगों के लिए खोल दिये, जो मूलतया विदेशी थे, किंतु भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आने के लिए इच्छुक थे। इस प्रकार के साक्ष्यों का अभाव प्राचीन भारतीय इतिहास में नहीं है। जब विदेशी जातियों ने भारतीय धर्म को स्वीकार कर भारत की धार्मिक परंपराओं में अपनी निष्ठा व्यक्त की। ई.पू. और ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों के भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक साक्ष्य सुलभ हैं।

उदाहरण के लिए बेसनगर के अभिलेख में यह स्पष्ट है कि यवन राजदूत 'हेलियोडोरस' ने भगवत धर्म को अंगीकार कर लिया था और भगवान वासुदेव के सम्मान में एक गरुडध्वज समर्पित किया था। इसी प्रकार महाक्षत्रप सोडास के समय एक अन्य अभिलेख में भगवान वासुदेव के मंदिर के प्रवेश द्वार और वेदिकाओं के निर्माण का उल्लेख है। कुषाण द्वारा बौद्ध धर्म अपनाये जाने से उनके भारतीय समाज में प्रवेश में किसी प्रकार की समस्या का प्रश्न नहीं था, क्योंकि बौद्ध धर्म जाति-वर्ण इत्यादि को अस्वीकार करता है। इस युग में जहां तक स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न है, इस युग में समाज में स्त्रियों को सम्मानजनक दृष्टि से देखा जाता था।

उनके जीवन को मनु ने काफी प्रतिबंधित कर दिया था। कन्या, पत्नी और माता के रूप में क्रमशः पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित और संरक्षित मानी गयी। सातवाहन काल में स्त्रियों की पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति हो गयी थी, इसमें कोई संदेह नहीं। सातवाहन राजाओं द्वारा अपने नाम के साथ माता का नाम जोड़ने की प्रथा जैसे गौतमीपुत्र शातकर्णि, वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी समाज में स्त्रियों की मान्यता को इंगित करता है। रानी नागनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में शासन चलाया था। बलश्री को गौतमी ने 'विदुषी' और 'धर्मपरायण' कहा है। स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। बाल्यकाल से ही उनकी शिक्षा का प्रबंध किया जाता था। अनेक महिलाएं शिक्षिका बनकर शिक्षण कार्य द्वारा जीवन यापन करती थीं।

ऐसी स्त्रियां 'उपाध्याया' कही जाती थीं। मनु के अनुसार विवाह के अवसर पर कन्या को जो कुछ दिया जाता था अर्थात् पति गृह जाते समय माता-पिता एवं भाई द्वारा दिया धन स्त्री को ही मिलता था, उसे 'स्त्री धन' कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि परिवार की संपूर्ण संपत्ति में स्त्री का हिस्सा होता था एवं इच्छानुसार अपने पास रख सकती थी। मनु ने यह भी निर्देशित किया है कि पति की मृत्यु के बाद नारी को उसके स्त्री धन से वंचित न किया जाये। एक स्थान पर अपुत्रवती, व्यभिचारिणी स्त्री की शुद्धि का उल्लेख कर उसकी स्थिति को मजबूत करने का प्रयास किया है। हमें ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं, जिनसे स्त्रियों की पर्दा प्रथा सिद्ध होती हो, किंतु विवाह की अवस्था निरंतर घटती जा रही थी। संभवतः यह पाश्चात्य आक्रमणकारियों के भारतीय समाज में प्रवेश के प्रयास का परिणाम था। मनु ने 30 वर्ष के पुरुष को 12 वर्ष की कुमारी अथवा 24 वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की बालिका से विवाह की अनुमति प्रदान कर दी। इसका प्रभाव स्त्री शिक्षा पर तो पड़ा ही साथ ही मानसिक विकास पर भी इसका बुरा असर हुआ। जिन विशेष परिस्थितियों में वैदिक काल में तलाक की अनुमति थी, उसे भी बुरा समझा जाता था। विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक के साथ सती प्रथा का आविर्भाव हुआ। महाभारत के कुछ उल्लेखों और यवन लेखकों द्वारा कुछ

वास्तविक घटनाओं की चर्चा से स्पष्ट है कि इस काल में यह प्रथा प्रचलित थी। अरिस्टोबुलस ने इस विषय में कुछ छान-बीन कर लिखा है कि कुछ अवस्थाओं में स्त्रियां स्वेच्छा से अपने पति की चिता पर जल मरती हैं। जो ऐसा नहीं करती वे समाज में हेय दृष्टि से देखी जाती हैं, यद्यपि आरंभिक धर्मशास्त्रों में इस प्रथा को मान्यता नहीं दी गयी है, तथापि इससे स्पष्ट होता है कि क्रूर प्रथा को जनता प्रोत्साहित करती थी।

ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्यिक ग्रंथों से दास प्रथा के प्रचलन की जानकारी मिलती है। मनु ने शूद्रों से दास कर्म करवाये जाने का उल्लेख किया है। उसने सात प्रकार के दासों का जिक्र किया है—ध्वजाहत (युद्ध में जीता गया), भक्तदास (भोजन हेतु बना दास), गृहज (दासी पुत्र), क्रीत (मूल्य देकर क्रय किया हुआ), दत्तिम (किसी द्वारा दिया हुआ), पैत्रिक (पैतृक रूप से चला आ रहा), दंडदास (दंड या ऋण न चुका पाने के कारण)। दो प्रकार के दासों का महाभाष्य में जिक्र आया है—क्रीत एवं परिक्रीत। परिक्रीत दास निश्चित अवधि के लिए निश्चित द्रव्य के आधार पर परिचारक के रूप में रखे जाते थे एवं क्रीत दासों को सुनिश्चित धन से क्रय किया जाता था, जो उतना धन लौटाये जाने पर स्वतंत्र हो जाता था। स्मृतियों में दासों के प्रति उदार व्यवहार और मुक्ति के नियम दिये गये हैं। मौर्योत्तर काल को इस तरह सामाजिक परिवर्तनों एवं समन्वय का युग कहा जा सकता है। उत्तर भारत दक्षिण से जुड़ने लगा और सांस्कृतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में परिवर्द्ध होने लगा।

References

- Anjaria, J.J., *The Nature and Ground of Political Obligation in the Hindu State*, Calcutta, Longmans, Green and Co., 1935.
- Barnett, L.D., *Antiquities of India*, London, Philip Lee Warner, 1913.
- Bhambhri, C.P., *Substance of Hindu Polity*, Meerut, International Publication House, 1959.
- Jayasawal, K.P., *Hindu Polity*, Bangalore, Bangalore Printing and Publishing Co. Ltd., 1955.
- Kane, P.V., *History of Dharmashastra*, Poona, Bhandarkar Oriental Research Institute, 1941.
- Sircar, D.C., *Land System and Feudalism in Ancient India*, Calcutta, University of Calcutta, 1966.
- Tilak, B.G., *The Arctic Home of the Vedas*, Poona, Tilak Bros., 1925.
- Tripathy, R.S., *History of Ancient India*, Delhi, Motilal Banarsidass, 1942.
- Vanaik, Achin, *Communalism Contested*, New Delhi, Vistaar Publications, 1997.
- Verma, V.P., *Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundations*, Delhi, Motilal Banarsidass, 1959.

चोल शासन में राजस्व व्यवस्था

डॉ० ममता पांडेय

एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, फ.अ.अ.
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महमूदाबाद, सीतापुर, उ०प्र०

विशाल पल्लव साम्राज्य के पतन के अनन्तर उसी आधारशिला पर चोलों ने अपने महान शासन का भवन खड़ा किया। चोलों का विशाल साम्राज्य उनके विशाल सैन्य संगठन का परिणाम था, जिसकी व्यवस्था के लिये आत्यन्तिक रूप से धन-सम्पत्ति की आवश्यकता थी। इसके लिये चोल सम्राटों ने एक सुदृढ़ राजस्व व्यवस्था को स्थापित किया। अपने मूल रूप में यह राजस्व व्यवस्था यद्यपि पूर्ववर्ती पल्लव शासकों की राजस्व व्यवस्था पर ही आधारित थी किन्तु चोलों ने इसमें बहुत से आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये। उन्होंने जनता पर बहुत से नये-नये कर लगाये और इन्हें वसूलने में पर्याप्त कठोरता भी बरती। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप ही चोल शासन में भी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का प्रमुख आधार भूमि ही थी। भूमि पर लगाया जाने वाला कर नकद और अनाज दोनों रूपों में लिया जाता था। भूमि कर के अतिरिक्त सीमाशुल्क, चुंगी, व्यवसाय कर, वन सम्पदा, खानों की उपज, नमक आदि पर लगाये गये कर राष्ट्रीय आय के प्रमुख स्रोत थे। जनता से बेगार लेने की प्रथा भी चोल शासन में काफी प्रचलित थी।

विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त सम्पत्ति का उपयोग सेना के रख-रखाव के साथ-साथ राजा और राजपरिवार के सदस्यों को सुखोपभोग पर भी खर्च किया जाता था। चोल राजा अत्यन्त टाट-बाट के साथ रहते थे जिसका अनुकरण उनके सामन्त और उच्चाधिकारी भी करते थे। इन सभी खर्चों के लिये आवश्यक धन राजस्व से ही प्राप्त होता था।

चोल शासन में राजस्व के प्रकार- चोल कालीन अभिलेखों में ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनसे सम्बन्धित दृष्टान्तों और विवरणों के आधार पर उन्हें राजस्व अथवा करों की श्रेणी में रखा जा सकता है, किन्तु इन विवरणों से उनकी प्रकृति का ज्ञान नहीं होता। 'इरै' तथा 'वरि' दो ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग करों की वसूली के लिये बार-बार हुआ है किन्तु इरै और वरि में क्या भेद था, इसकी सूचना अभिलेखों की शब्दावली से स्पष्ट नहीं हो पायी है। इसी प्रकार 'मन्रूपाडु' और 'दण्डम्' नामक दो करों का उल्लेख भी अभिलेखों में हुआ है।¹ इनमें 'मन्रूपाडु' तो आपराधिक मामलों में दिया जाने वाला अर्थ दण्ड था किन्तु 'दण्डम्' की प्रकृति के बारे में अनिश्चितता की स्थिति है। दण्डम् यद्यपि निश्चित रूप से एक कर ही था किन्तु कहीं-कहीं इसका प्रयोग इसके शब्दिक अर्थ से भिन्न रूपों में भी हुआ है।² परान्तक प्रथम ने अपने शासन के अड़तीसवे वर्ष (985 ई०) में तिरूक्कुडमूक्किल की ग्रामसभा पर सोने के 3,000 कलंजु का दण्डम् लगाया था किन्तु इस विवरण में यह नहीं बताया गया है कि इस दण्डम् का कारण क्या था ? इस धन का भुगतान पांडिप पडै (संभवतः, पांड्य युद्ध में लगी सेना) को करने के आदेश से यह संभावना बनती है कि यह कोई ऐसी वसूली थी जो युद्धकाल में ली जाती थी। चोल शासकों के युद्धों के समय इस प्रकार की वसूली करने की पुष्टि आलंगुडि के एक अभिलेख से भी होती है, जिसके अनुसार वीर राजेन्द्र ने वेंगी के युद्ध में होने वाले व्यय के लिये अपने राज्य में प्रति 'बेलि' एक कलंजु का कर लगाया था।³ चोल शासनकाल से सम्बन्धित एक अन्य कर 'इरवु' है जिसका अर्थ भी निश्चित नहीं है, एक अभिलेख में यह उपकर के रूप में प्रयुक्त है जिसे अनाज के रूप में वसूल किया जाता था।⁴

यह पुरवु का बीस प्रतिशत था। 'पुरवु' का शब्दिक अर्थ है - जुती हुयी भूमि। संभवतः यह भूमिकर था। करों के संदर्भ में चोल अभिलेखों में प्रयुक्त कुछ शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। यथा-'आयम' राजस्व के लिये, 'कडमै' शुल्क के लिये, 'कुडिमै' लगान के अर्थ में तथा शिन्तायम और शिल्लरै जिसका तात्पर्य छोटी-छोटी वसूलियों से है। इसके अतिरिक्त चोल अभिलेखों में विभिन्न करों का उल्लेख है जिनमें से प्रमुख कर इस प्रकार हैं-

1. मरमंजाडि- प्रत्येक उपयोगी वृक्ष पर लिये जाने वाला कर।
2. पाडिकवल- ग्राम की चौकीदारी का शुल्क।
3. मनैइरै- यह गृहकर था।
4. कडमै- सुपारी के वृक्षों पर लगने वाला कर।
5. मगनमै- यह कर बढ़ई, स्वर्णकार, लुहार, कुम्हारों से लिया जाता था।
6. कडैइरै- दुकान पर लगने वाला कर।
7. पेवरि- तेलियों पर लगने वाला कर 'पेवरि' कहलाता था।
8. वाशल्लिरमम्- वाशल्लिरमम् का तात्पर्य द्वारकर से है।
9. आजीवकक्काशु- आजीवको पर लगाये जाने वाले कर को 'आजीवकक्काशु' कहा जाता था।

भूमि सर्वेक्षण तथा भूमिकर- चोल साम्राज्य में राजस्व का प्रधान स्रोत एवं अर्थ व्यवस्था का मुख्य आधार भूमिकर था। चोल शासकों ने भू-राजस्व के निर्धारण तथा उसके पुनर्मूल्यांकन के लिये समय-समय पर भू-सर्वेक्षण, भूमि का वर्गीकरण तथा कृषि योग्य भूमि की नाप-जोख करवायी थी। राजराज प्रथम के शासनकाल में भूमि का सही-सही सर्वेक्षण किया गया था और शासकीय पंजियों में उन्हें दर्ज किया गया था। इस सर्वेक्षण के पश्चात् इस प्रकार के सर्वेक्षण होने और भूमि की नाप-जोख होने के उल्लेख कई अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। कुलोटुंग प्रथम के राज्यकाल में भी इस प्रकार का सर्वेक्षण करवाया गया था। 1184 ई० में के.तिरूमंगलम् (तंजौर जिला) से प्राप्त एक अभिलेख से भूमि की पैमाइश के संबंध में अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। अभिलेख के विवरणानुसार इस ग्राम की सरकारी पंजी. में लिखित भू-स्वामित्व का विवरण वास्तविक स्वामित्व से भिन्न था, इसीलिये दोनों विवरणों में सामंजस्य स्थापित करने एवं भूल-सुधार करने के लिये पुनः भूमि का सर्वेक्षण किया गया था।¹ ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक स्थिति और शासकीय लेखों में लिखित विवरण में अंतर का कारण अभिलेखों का समयानुसार नवीनीकरण न किया जाना तथा कृषकों द्वारा सार्वजनिक सड़कों और नहरों के बन्धों आदि की भूमि पर अपनी भूमि का विस्तार किया जाना था। प्राप्त प्रमाणों से इस अंतर का एक कारण और ज्ञात है। विक्रमचोलपेरारू ने नदी के बहाव की दिशा को परिवर्तित कर दिया था; जिससे ग्राम की कृषि योग्य भूमि को काफी क्षति पहुँची थी, जबकि कृषकों से पुरानी दर पर बिना इस क्षति का मूल्यांकन किये ही भूमिकर वसूल किया जा रहा था। इसलिये एक नया सर्वेक्षण किया गया और उस सर्वेक्षण से आंकड़ों को शासकीय अभिलेखों में अंकित किया गया। चोल अभिलेखों में भूमि के बारह से भी अधिक प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। विभिन्न चोल अभिलेखों में इस आशय के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनमें नाट्टार और सभा द्वारा यह आश्वासन दिया गया है कि दान में दिये भूखण्डों को कभी निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी के वर्ग में नहीं रखा जायेगा। इस विवरण से भूमिकर के विषय में उपयोगी सूचना मिलती है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भूमिकर की दर का निर्धारण, भूमि के प्रकार, उसकी उर्वरता एवं फसलों के परिवर्तनों के आधार पर किया जाता था। भूमिकर की दर के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख चोल अभिलेखों में नहीं प्राप्त होता है। राजराज प्रथम के तंजौर अभिलेख के अनुसार प्रति वेल

देवदान भूमि में मंदिर का अंश 100 कलम था।⁶ नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार यदि भूमि उर्वरता उस काल में वही थी जो वर्तमान समय में है, तो यह कहा जा सकता है कि कर की मात्रा उपज का 1/3 थी।⁷ आर. सथियनथायर भी इसी मत का समर्थन करते हैं। चोल अभिलेखों में कर की मात्रा के सम्बन्ध में कहा गया है कि राजा मनु के आदेशानुसार कर ग्रहण करता था अर्थात् वह उपज का 1/6 भाग कर के रूप में लेता था।⁸ इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि चोल शासक सैद्धांतिक रूप से प्राचीन भारतीय परम्परानुसार उपज का 1/6 भाग ही कर रूप में ग्रहण करते थे किन्तु चोल शासकों के विजय अभियानों और उनके द्वारा किये सार्वजनिक निर्माण कार्यों में व्यय की गयी प्रभूत धनराशि को देखते हुये यह स्वीकार करने में भी कोई संदेह नहीं होना चाहिये कि यदा-कदा उपज का 1/3 भाग भी कर के रूप में ग्रहण किया जाता रहा होगा।

कर मुक्त भूमि- चोल कालीन अभिलेखों में 'इरैयिल' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका तात्पर्य है - कर मुक्त। इस शब्द का प्रयोग कर मुक्त भूमि के संदर्भ में हुआ है जिसकी कई श्रेणियां होती थी और इन पर अलग-अलग मात्रायें छूट दी जाती थीं। यद्यपि भूमिकर चोल राजस्व व्यवस्था में प्रधान स्थान रखता था किन्तु प्रत्येक ग्राम में कुछ भूमियां ऐसी होती थी जो करों व उपकरणों से पूर्णरूपेण मुक्त रहती थीं। इनमें गाँव का आवासीय क्षेत्र (ऊरनत्तम), मंदिर, तालाब, ग्राम से गुजरने वाली नहर, चांडाल लोगों की बस्तियां (पैरैचेरि), कारीगरों और शिल्पियों के निवास स्थान (कम्माणच्चेरि) और श्मशान भूमि (शूडु-काडु) सम्मिलित थी।⁹ इसी प्रकार की बकरों की बलि के स्थान, अम्बट्टर तथा नाबिदर (नाई), कुम्हार, लौहकार, बढई, स्वर्णकार एवं रजकों आदि के आवास कर मुक्त थे। इस प्रकार की कर मुक्त भूमि का क्षेत्रफल ग्राम के कुल क्षेत्रफल में से घटा दिया जाता था जिससे शेष भूमि पर कर लगाने में सुविधा हो। अभिलेखों में कुछ भूमियाँ यथा वह भूमि जिससे नदी के बांध हेतु मिट्टी निकाली गयी हो तथा श्मशान भूमि को नींगल अर्थात् वर्जित भूमियां कहा गया है। सन् 1223 ई0 के तिरुवोर्रियूर के एक अभिलेख के अनुसार कुछ भूमि पहले इरैयिल मानी गयी थी किन्तु जांच से ज्ञात हुआ कि वह केवल नींगल थी। अतः इन जमीनों के काश्तकारों से कई ऐसे कर वसूल किये जो उन्होंने वर्षों से नहीं जमा किये थे। कर के रूप में वसूले गये धन को मंदिर के कोष में जमा कर दिया गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इरैयिल भूमि नींगल भूमि से भिन्न थी। नींगल पर कर तो लगाया जाता था किन्तु वह कर राजकीय कोष में नहीं जमा किया जाता था। इसलिये ऐसी भूमि पर लगाये जाने वाले कर राजस्व की पंजियों से हटा लिये जाते थे और इस कर से प्राप्त धन स्थानीय संगठनों को दे दिया जाता था। जिसका वे अन्य कार्यों में प्रयोग करते थे।

विशेष चंदा- नियमित करों और वसूलियों के अतिरिक्त स्थानीय संस्थायें चंदा भी वसूल करती थी। इसका प्रमाण सन् 922 ई0 के ऐरोडे के एक अभिलेख से प्राप्त होता है। अभिलेखानुसार एक नाडु के लोगों ने एक विष्णु मंदिर में कृष्ण की पूजा की व्यवस्था के लिये कुछ नवीन उपकरण देने का दायित्व लिया था। ये नये उपकरण थे-

- प्रत्येक घर (केडि) से 1/2 पणम्,
- प्रत्येक विवाह में वर-वधू दोनों पक्षों से 1/8 पणम्,
- प्रत्येक श्मशान से एक मंजाडि और एक कुरि सोना शुल्क (पट्टम) के रूप में।

लगभग इसी समय में बाहूरनाडु के गडूरियों (मन्नाडियों) ने अपने समाज के प्रत्येक विवाह (काट्टिलेरप्पांपोडु) के अवसर पर बाहर के श्री मूलट्टानम् के पेरूमाल (विष्णु) के लिये एक भेड़ देना स्वीकार किया था। यह नियम उन पर भी लागू था, जो बाहूर के मूल निवासी नहीं थे। यदि कोई भेड़ नहीं देता था तो गणप्पेरूमक्कल (कार्य समिति) और देवरडियार (देव के सेवक, मंदिर के कर्मचारी या नर्तकियां अथवा दोनों) को यह अधिकार था कि वे उससे बलपूर्वक दो भेड़े छीन

लें।¹⁰ राजराज प्रथम के शासन काल में तंजौर के तलैच्चंगाडु नामक स्थानीय देवालय में कुछ कार्यों के लिये व्यापारियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों से चंदा लेकर 100 काशु की एक अक्षयनिधि स्थापित की गयी थी। इसी प्रकार 1174 ई० में कांचीपुर में तेलियों की एक श्रेणी ने यह निर्णय लिया था कि मंदिर के परिसर में लगे प्रत्येक कोल्हू मिल के स्वामी से उस मंदिर में दीपक जलाने के लिये चंदे के रूप में कडमै तथा एक काशु प्रतिवर्ष लिया जायेगा। उपर्युक्त उदारणों से स्पष्ट है कि ये विशेष चंदे अधिकांशतः धार्मिक कार्यों के लिये ही लिये जाते थे। वस्तुतः दक्षिण भारत में मंदिर सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग थे और उनके रख-रखाव पर बहुत ध्यान दिया जाता था। मंदिरों की व्यवस्था सुचारू रूप से चलाने के लिये आवश्यक धन की पूर्ति इन विशिष्ट उपकरणों के द्वारा की जाती थी।

करों में दी गयी छूटें- चोल साक्ष्यों में करों के सम्बन्ध में जो सूचनायें मिलती हैं वे अधिकांशतः विभिन्न संस्थाओं को करों में दी गयी छूटों के संदर्भ में अभिलेखों में आ गये हैं। ऐसी छूटें सामान्यतया ग्राम सभा द्वारा दी जाती थीं किन्तु कहीं- कहीं राजा द्वारा भी छूट दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं, ये छूटें उन्हीं करों पर दी जाती थी जिनकी वसूली का अधिकार सभा या राजा को था। कुछ उल्लेखों से तो स्पष्ट पता चलता है कि ऐसे मंदिर को 'सभा विनोयोगम' से छूट दी गयी जो पहले से ही 'ऊर-की-इरैयिल' (ऊर के अधीन कर मुक्त) था।¹¹ इस प्रकार के भी उदाहरण प्राप्त हैं जब भविष्य में देय उपकरणों को धन में परिवर्तित करके इकट्ठा, धनराशि जमा करा ली गयी थी जिसके व्याज से इन उपकरणों का भुगतान होती रहती थी। यद्यपि इन दोनों स्थितियों में छूट का सूत्र हो तो एक ही था किन्तु इनमें अंतर स्पष्ट है। जब करों में केन्द्र अथवा स्थानीय संस्था द्वारा मुक्ति प्रदान की जाती थी तो उसके पश्चात् उसके विषय में कोई वसूली नहीं की जाती थी, किन्तु जब लगान के बदले एक मुश्त धनराशि जमा करा ली जाती थी तो जिस ग्राम सभा के क्षेत्र में वह भूमि होती थी उस सभा को उसके (भूमि के) विषय में सभी तरह के भुगतानों का दायित्व लेना पड़ता था। ग्राम सभा इस आशय का लिखित दस्तावेज केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को दे देती थी।¹² ऐसे दस्तावेज को 'इरैकावल' (कर-रक्षक) कहते थे। इस विवरण से स्पष्ट है कि करों में दी गयी छूटें तथा करों के स्थान पर जमा करायी गयी एक मुश्त धनराशि के विवरणों को दस्तावेज के रूप में सुरक्षित रख लिया जाता था जिससे भविष्य में किसी भी प्रकार के विवाद से बचा जा सके।

राजस्व अधिकारी- चोल प्रशासनिक संगठन में करों की वसूली के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति किये जाने के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। राजस्व की वसूली मुख्यतः स्थानीय संगठनों द्वारा की जाती थी, परन्तु इन संस्थाओं के क्रिया-कलापों पर केन्द्रीय सत्ता का पूर्ण नियंत्रण होता था। राजस्व वसूली की प्रक्रिया को व्यवस्थित बनाने के लिये भूमि-स्वामित्व संबंधी लिखित अभिलेख तैयार किये जाते थे। 'वरिप-पोत्तगम्' भूमि-स्वामित्व संबंधी अभिलेख था जिसमें संबंधित विवरण पूरी जांच-पड़ताल के पश्चात् दर्ज किये जाते थे। इन पंजियों को समय-समय पर जांच कर इनका नवीनीकरण किया जाता था। इसके लिये सुशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। ये कर्मचारी राजा तथा राज्य के प्रति निष्ठावान् होने के साथ ही अपने कार्य में भी दक्ष होते थे। राजस्व विभाग की अभिलेख पंजिका जिसमें करों की वसूली का पूरा विवरण दर्ज रहता था। 'वरिप्पोत्तगम्-कणक्कु' कहलाती थी। चोल अभिलेखों में वर्णित शब्द 'पुरवुवरिप्पोत्तगम्' संभवतः 'वरिप्पोत्तगम्' का संक्षिप्त रूप है जो भूमिकर से संबंधित था। इसी अर्थ के आधार पर नीलकंठ शास्त्री ने बहुसंख्यक अभिलेखों में आये शब्द 'पुरवु-वरि-तिणैक्-कलम्' अर्थ राजस्व विभाग लगाया है।¹³ एक अन्य अभिलेख में आयी शब्दावली 'पुरवु-वरि-तिनिक्-कलतु वरीप्पोत्तग' का तात्पर्य वेंकय्या महोदय ने 'अक्षय निधि (पर लगाने वाले), कर के विभाग (तिणैक्कलम्) में जमाबंदी का अध्यक्ष' बताया है।¹⁴ राजस्व के

सम्बन्ध में विभिन्न प्रसंगों में कंकाणियों का उल्लेख मिलता है ये राजस्व पर्यवेक्षक होते थे जो नियंत्रण और लेखा परीक्षा के केन्द्रीय कार्यालय की ओर से प्रत्येक इलाके में स्थानीय अधिकारियों पर नियंत्रण रखते थे। पंजियों में प्रविष्टियां दर्ज करने वाले अधिकारियों को 'वरिष्पोत्तगम्' तथा 'वरिङ्गलीडु' कहा जाता था। 'मुगवेट्टि' और 'पट्टोलै' राजस्व विभाग के छोटे कर्मचारी होते थे।¹⁵ इनके कार्यों के बारे में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री का अनुमान है कि 'मुगवेट्टि' राजकीय पत्र लिखने या उत्कीर्ण करने से संबंधित अधिकारी था।¹⁶

चोल शासन में राजस्व अधिकारियों को राजस्व की वसूली और उसका लेखा-जोखा रखने के अतिरिक्त दूसरे कार्य भी करने पड़ते थे। संभवतः उन्हें आज के मजिस्ट्रेटों जैसे अधिकार प्राप्त थे। अभिलेखों और दानपत्रों से यह प्रमाणित होता है कि उन्हें बहुत से प्रशासकीय अधिकार मिले हुये थे। वे मंदिरों के आय-व्यय का नियमन करते थे, समय-समय पर मंदिरों की आय-व्यय की जांच भी करते थे। सरकारी विभाग की ओर से भूमि क्रय करते थे। ग्राम-सभा और कुछ अन्य स्थानीय संस्थाओं के दस्तावेजों की पुष्टि करते थे और कभी-कभी ग्राम निवासियों को अच्छा व्यवहार करने का आदेश भी देते थे। संभवतः ये अधिकारी छोट-छोटे अपराधों की सुनवायी भी करते थे। 'नाट्टरस' राजस्व विभाग का एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता था किन्तु इसके विशेष कर्तव्यों के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

चोल प्रशासन में जिलों में केन्द्र सरकार के अधीन कार्य करने वाले विभिन्न कार्यालयों का नामोल्लेख अभिलेखों में प्राप्त होता है। इन कार्यालयों में 'शंदुविग्रहम्', 'महापात्र', 'नाडुवगै', 'नाट्टक कण्डु काट्टि' आदि प्रमुख हैं।¹⁷ इन कार्यालयों के पृथक-पृथक कार्यक्षेत्रों के विषय में कुछ निश्चित रूप से कह पाना कठिन है। 'नाडुकर' संभवतः नाडु के स्तर का राजस्व बंदोबस्त अधिकारी होता था।¹⁸

चोल प्रशासन में करों की संख्या बहुत अधिक थी और उनकी वसूली में भी पर्याप्त कठोरता बरती जाती थी। कभी-कभी तो यह कठोरता अत्याचार की सीमा तक पहुँच जाती थी। अभिलेखों में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजस्व की वसूली में स्थानीय अधिकारी ही अधिक कठोरता प्रदर्शित करते थे। ऐसा भी उदाहरण प्राप्त हुआ है कि राजेन्द्र द्वितीय ने अपने एक राजस्व अधिकारी को उसके क्रूरतापूर्ण कृत्य के लिये दण्डित भी किया था।¹⁹ इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व की वसूली में जनता पर किये जाने वाले अत्याचारों की सूचना केन्द्रीय शासक तक नहीं पहुँच पाती थी। परवर्ती काल में केन्द्रीय शासन की ढिलाई के कारण कर वसूल करने में स्थानीय अधिकारी अत्याचार करने लगे तथा प्रथा के विरुद्ध भी कर लगाने लगे। जो कर नहीं अदा कर पाता था उसकी भूमि नीलाम कर दी जाती थी तथा संपत्ति जब्त कर ली जाती थी। कभी-कभी तो मंदिरों को भी अपनी जमीन बेच देनी पड़ती थी।

राजस्व का व्यय- राजकीय आय को राजकीय अधिकारियों तथा कर्मचारियों के वेतन, स्थल एवं जल सेना के रख-रखाव, नगरों, सड़कों, राजप्रासादों, तालाबों, आदि जैसे सार्वजनिक कार्यों में व्यय किया जाता था। प्रशासनिक मामलों में खर्च किये धन से बची हुयी आय को राजा अपने निजी कार्यों में व्यय करते थे। सामाजिक प्रतिष्ठा तथा जनता की भलाई के लिये मंदिर, तालाब, आदि बनवाये जाते थे। बची हुयी सम्पत्ति मंदिरों में जमा कर दी जाती थी। तब आर्थिक स्थिति अनुकूल नहीं होती थी तो मंदिर अपने कोष से धन देते थे। आज जनता के परिश्रम से अर्जित किया गया धन राजा, सामंतों और मंदिरों के पास अनेक रूपों में पहुँचता था, किन्तु वह धन उनके लाभ के लिये उन्हें समय पर मिल भी जाता था। इसमें आश्चर्यजनक सामाजिक सामंजस्य का भाव था जिसका आधर वर्गों या व्यक्तियों की समानता नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भाव था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चोल प्रशासन में जनता पर लगाये गये करों की बहुतायत थी। करों को वसूलने और उनका हिसाब-किताब रखने के लिये कई प्रकार के कार्यालय थे, जिनमें बहुत से अधिकारी नियुक्त होते थे। ये अधिकारी राजस्व की वसूली के अतिरिक्त बहुत से अन्य प्रशासनिक कार्य भी देखते थे। उनके द्वारा एकत्र किया गया राजस्व राजकीय कोष और मंदिरों के निजी कोषों में जमा किया जाता था। करों की वसूली में कठोरता का व्यवहार भी किया जाता था, किन्तु ऐसा केन्द्रीय शासन के परोक्ष में ही होता था। राजस्व से प्राप्त आय विभिन्न सार्वजनिक कार्यों में खर्च की जाती थी, जिससे जनता सामूहिक रूप से लाभान्वित होती थी। इस प्रकार वसूला गया राजस्व विभिन्न रूपों में पुनः जनता के हितार्थ ही व्यय कर दिया जाता था।

संदर्भ सूची:

1. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स पपप, पृ 27
2. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स पपप, पृ 93
3. के. ए. एन. शास्त्री, चोलवंश, पृ 405
4. ऐनुवल रिपोर्ट ऑफ एपिग्राफी, मद्रास 1921, पृ 11, 35
5. के. ए. एन. शास्त्री, चोलवंश, पृ 409
6. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स ii, 4,5
7. चोल वंश, पृ 0-410
8. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स iii, 28, पृ 0-7
9. के. ए. नीलकंठ शास्त्री चोलवंश, पृ 0-414
10. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स अपप, 4,5, संख्या-804
11. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, चोल वंश, पृ 0-406
12. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, चोल वंश, पृ 0-407
13. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, चोल वंश, पृ 367
14. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स पप, पृ 88
15. साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स पपप, पृ 139
16. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, चोल वंश, पृ 0-367
17. के. ए. एन. शास्त्री, चोल वंश, पृ 0-368
18. के. ए. एन. शास्त्री, चोल वंश, पृ 0-368
19. के. ए. नीलकंठ शास्त्री, चोल वंश, पृ 416

प्राचीन भारतीय समाज एवं शूद्र

डॉ० अमरकांत सिंह

इतिहास विभाग, मुरारका कॉलेज, सुल्तानगंज, भागलपुर

ऋग्वेद से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में केवल दो वर्ण थे- आर्य वर्ण और दास वर्ण। कालांतर में कर्मों के आधार पर इनके विभेद हुए। आर्य भारत में स्थायी रूप से निवास करने लगे तो उन्होंने भिन्न-भिन्न कर्मों के आधार पर विभिन्न वर्गों का विभाजन किया। जो व्यक्ति यज्ञादि कर्म कराते थे उन्हें 'ब्रह्म', जो युद्ध में निपुण थे तथा लोगों को सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ थे उन्हें 'क्षत्र' नाम दिया गया। शेष जनता को 'विश' कहा गया। वर्ण व्यवस्था का यह प्रारंभिक स्वरूप था। कालांतर में 'शूद्र' नामक चौथा वर्ण इसमें जोड़ दिया गया। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पुरुष सुक्त में सर्वप्रथम इस वर्ण का उल्लेख मिलता है जिसमें इसे ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न बताया है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः

उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायतः॥

संभवतः आर्य जाति ने अनार्यों को पराजित कर अपने सामाजिक संरचना में उन्हें स्थान देकर चौथे वर्ण शूद्र की उत्पत्ति की।¹

रामशरण शर्मा ने शूद्रों की उत्पत्ति के उपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए कहा है कि वस्तुतः इस वर्ग में आर्य तथा अनार्य दोनों ही वर्गों के व्यक्ति सम्मिलित थे। आर्थिक तथा सामाजिक विषमता, दोनों ने ही श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। बाद में सभी श्रमिकों को शूद्र कहा जाने लगा। आर्य शिल्पियों के अनेक वंशज, जो अपने प्राचीन व्यवसाय में लगे थे, शूद्र समझे जाने लगे।² अथर्ववेद काल के अंत में शूद्रों को समाज के एक वर्ग के रूप में मान्यता मिल गयी। इस प्रकार समाज का चतुर्थ एवं सबसे निम्न वर्ग शूद्र था। विराट् पुरुष अथवा ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न होने के कारण उसे समाज के सभी वर्गों की सेवा करना होता था। उसे अत्यंत हेय समझा जाता था जो सभी प्रकार के अधिकारों एवं संस्कारों से रहित था। उसका जीवन पूर्णतया अपने स्वामी की दया पर निर्भर था। 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास' में रामशरण शर्मा ने कहा है कि पूर्व तथा उत्तर वैदिक काल तक शूद्रों को अपवित्र नहीं माना जाता था। जब समाज कृषि प्रधान हो गया तथा वर्गों में विभाजित हो गया तब उच्च वर्ग के लोग अपने विशेषाधिकार तथा सुविधाओं की मांग करने लगे। तभी शूद्रों को अपवित्र घोषित कर दिया गया।³

मूलतः शूद्र श्रमिक वर्ग के लोग थे। उत्तर वैदिक काल तक कोई भी कार्य अपने स्वरूप के कारण अपवित्र नहीं माना जाता था। यहाँ तक की चमड़े का काम भी घृणा से नहीं देखा जाता था। शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान का भाव मिलता था। शूद्र राजनैतिक जीवन में भी भाग ले सकते थे। रत्नियों की सूची में भी उनके नाम मिलते हैं। रथकार एवं तक्षन इसके उदाहरण हैं।⁴ राजसूय एवं राज्याभिषेक जैसे समारोहों के अवसर पर शूद्र प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे।⁵

उपनिषदों में कहीं-कहीं शूद्रों की हीनता का विरोध किया गया है। वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्म लोक में सभी समान जाते हैं तथा चाण्डाल को भी यज्ञ का अवशेष पाने का अधिकार है। पुराणों में भी उनके प्रति अच्छी भावना व्यक्त की गई है। उन्हें दान करने की अनुमति प्रदान की गयी है, तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ मोक्ष प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु इस उदार भावना के विपरीत वास्तविक जीवन में उनका स्थान सम्मानीय नहीं था।

सामाजिक और धार्मिक जीवन में उन्हें एक ओर सूत्रों के माध्यम से प्रतिबंधित किया जा रहा था तो दूसरी ओर थोड़ी बहुत उदारता दिखाते हुए उनसे उच्च कार्य करने की आशा व्यक्त की जा रही थी। किन्तु सामाजिक व्यवस्था के नियम और सिंद्धांत इतने कठोर थे कि उनकी उपेक्षा कर पाना शूद्रों के लिये असंभव था। ब्राह्मण-विरोधी धर्मों के उदारतावादी जाति सिद्धांत को देखकर कालांतर में हिन्दू धर्मशास्त्रकारों और स्मृतिकारों ने कठोर और रूढ़ीवादी होते हुये भी शूद्रों के प्रति तनिक उदार भावना भी व्यक्त की तथा ब्राह्मणीय कृत्यों और व्रत सदाचारिता के द्वारा ही शूद्रों की आध्यात्मिक उन्नति को बल प्रदान करने की चेष्टा की।

धीरे-धीरे समाज में शूद्रों के दो वर्गों का विकास होने लगा। एक तो वह वर्ग जो ब्राह्मणों के निर्देशानुसार विशुद्ध आचरण और धार्मिक क्रियाओं को संपादित करता था और दूसरा वह वर्ग था जो इस विशुद्ध आचरण और सात्विक चरित्र से दूर असभ्य और असंस्कारयुक्त हीन जीवन व्यतीत करता था। पहले वर्ग के शूद्रों में ही संस्कार और धार्मिक कार्य होता था, किन्तु यह सब मंत्रहीन होता था। ऐसे सन्मार्गी शूद्र मंत्रहीन धर्म का पालन करते हुए प्रशंसा के पात्र माने जाते थे।⁶

मौर्यकाल तक आते-आते हम शूद्रों की स्थिति में सुधार के लिये कुछ चिन्ह देखते हैं। अर्थशास्त्र में उनका धर्म द्विजातियों की सेवा के साथ ही 'वार्ता' अर्थात् कृषि पशुपालन और वाणिज्य भी बताया गया है।⁷ 'नये क्षेत्रों को साफ करने और बसाने का कार्य सरकार द्वारा किया जाता था, और शूद्रों को बहुत बड़ी संख्या में घनी आबादी वाले इलाकों से निकालकर इन बस्तियों में लाया जा रहा था। कलिंग युद्ध से विस्थापित डेढ़ लाख लोगों को बंजर भूमि साफ करने और नयी बस्तियाँ बसाने के कार्य में लगाया गया था।

इन बस्तियों में रहने वालों के लिये शस्त्रास्त्र निषिद्ध थे, उनका एक मात्र कार्य खेती करना और उनकी अतिरिक्त उपज को सरकार ले लिया करती थी। शूद्र भूमि-दासों का जन्म राज्य के नियंत्रण में हुआ था और खाद्योत्पादन के लिये बड़े पैमाने पर दास प्रथा अनावश्यक हो गयी थी। लेकिन वास्तव में शूद्रों और दासों की स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं था, सिवाय इसके कि शूद्र वैद्यानिक दृष्टि से दास नहीं होता था। अन्य वर्णों और व्यवसायों के सदस्यों को अगर इन बस्तियों में रहना आर्थिक दृष्टि से लाभकर दिखाई देता तो वे स्वेच्छा से यहाँ आकर बस जाते थे।⁸

मौर्योत्तर काल में शूद्रों की स्थिति में काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। शूद्रों की स्थिति समाज में उँची हो गयी, और वे वैश्यों का स्थान ग्रहण करने लगे थे। वैश्यों और शूद्रों में विशेष अंतर नहीं रह गया था। इस समय के स्मृति (याज्ञवल्क्य) में मृत्यु के अशौच की अवाधि वैश्यों के लिये उतनी ही निर्धारित की जितनी शूद्रों के लिये। ये साक्ष्य इस बात के प्रमाण है कि पूर्व मध्य युग तक

आते-आते शूद्रों का एक वर्ग निश्चित रूप से वैश्य के समकक्ष आ गया था।

अलबीरूनी ने दोनों के लिये समान दण्ड की व्यवस्था की है, तथा दोनों के एक साथ ही गाँव और घर में रहने की बात कही है। 'मेधातिथि' और 'विश्वरूप' ने तो यह व्यवस्था दी है कि शूद्र न तो सेवक बनाये जा सकते हैं, और न ब्राह्मण पर निर्भर हो सकते हैं। वे व्याकरण आदि विषयों के ज्ञाता हो सकते हैं तथा स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी कृत्यों को वे सम्पन्न कर सकते हैं, जो अन्य वर्णों के लिए निर्दिष्ट किये गये थे।⁹

पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से विशुद्ध मन और मस्तिष्क वाला शूद्र श्रेष्ठ था। शूद्रों के घोर विरोधी 'मनु' चोरी के गुण दोषों को जानने वाले शूद्र को चोरी से आठ गुना, वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौंसठ गुना दण्ड का विधान किया है।¹⁰

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों की स्थिति एक समान नहीं रही है। समाज के सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं तथा नैतिक-मूल्यों ने शूद्रों की स्थिति में वांछनीय सुधार लाया। पूर्वमध्ययुगीन व्यवस्थिकारों और स्मृतिकारों के विचारों से भी यह स्पष्ट होता है कि समाज में शूद्रों की अवस्था निश्चित रूप से सुधरी थी।

संदर्भ

1. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ-69
2. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ-21-23
3. के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृष्ठ-86
4. डा०जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-140
5. महाभारत, 2. 33. 161.
6. ए. एल. बाशम, अद्भुत भारत, पृष्ठ-118
7. डी. एन. झा एवं कृष्ण मोहनश्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ-198-99
8. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृष्ठ-55
9. डा०जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-141
10. डा०ओम प्रकाश प्रसाद, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृष्ठ-242-43

पत्रिकाओं के लेआउट एवं डिजाइन के सैद्धांतिक आयामों का अध्ययन

अनिल कुमार निगम

शोध छात्र

मनोज कुमार सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर

वर्तमान दौर अखबारों और पत्रिकाओं में लेआउट एवं डिजाइन से संबंधित निवन प्रयोगों का है। इन दिनों पत्रिकाओं में लेआउट एवं डिजाइन का महत्व बढ़ा है। न्यूज चैनलों और अखबारों की संख्या बढ़ने से प्रतिस्पर्धा भी बढ़ी है और हर माध्यम ज्यादा बिकाऊ बने उसके लिए उसे दिखाऊ बनाने की होड़ में लगा है। बाजार में मची इसी होड़ ने अखबारों और पत्रिकाओं को अधिक आकर्षक बनाने के लिए बाध्य किया है।

कला जीवन को संस्कारित करती है और उसे मृतप्राय होने से बचाती है। कला की इसी विशेषता के कारण जनजीवन के हर क्षेत्र में उसकी अपरिहार्यता महसूस की जाती है। विषय जब पत्रिका का हो तो सौंदर्य का शोभन और कमनीयता की कामना स्वाभाविक है। लेआउट की अवधारणा यहीं से पनपी है। पत्रिकाओं में चित्राकर्षक प्रस्तुति समय की मांग हो गई है। कलात्मक और सुंदर पृष्ठसज्जा देखकर पाठक पहली नजर में ही आकर्षित हो जाता है। इस शोध लेख में समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में प्रयुक्त होने वाले लेआउट और डिजाइन के सैद्धांतिक आयामों की मीमांसा की गई है।

जब हम पत्रिका या समाचारपत्र में सज्जा की बात करते हैं तो सामान्यतः चार शब्द मानस पटल पर उभर कर सामने आते हैं- डिजाइन, डमी, मेकअप और लेआउट। डिजाइन का तात्पर्य है संपूर्ण आकृति या संरचना। इस प्रकार पत्रिका के पृष्ठों की समग्र संरचना अभिकल्प या डिजाइन कहलाती है। दूसरे शब्दों में अभिकल्प का अर्थ किसी भी मुद्रणीय सामग्री के आकलन से है। प्रिंटिंग सामग्री की विषय वस्तु क्या होगी, उसमें कितने रंगीन और कितने श्याम-श्वेत पृष्ठ होंगे, किस प्रकार के टाइप प्रयोग में लिए जाएंगे आदि का प्रारूप तैयार करना ही पत्रिका की डिजाइन कहलाती है। डिजाइन के संबंध में ब्रुस वेस्टले का वक्तव्य उल्लेखनीय है, "By design is meant the problem of entire format of the paper, ranging from decision about page size to how to treat fillers."

कहने का आशय है कि पत्रिका में कुल कितने पृष्ठ होंगे, किस पृष्ठ पर क्या सामग्री होगी, मास्टहेड का आकार और प्रकार क्या होना चाहिए, शीर्षकों का टाइप और आकार क्या हो, पत्रिका के कवर पेज पर किस आकार, प्रकार, रंग या कलेवर में चित्र, शीर्षक और उपशीर्षक हों? समाचारों, लेखों और कहानियों के शोषांश किस पृष्ठ पर दिए जाएं, विभिन्न पृष्ठों में विज्ञापन देने की नीति भी पत्रिकाओं की डिजाइन के अंतर्गत आता है।

पत्रिकाओं में डमी बनाना डिजाइन का अनिवार्य हिस्सा है। प्रत्येक पृष्ठ पर क्या सामग्री मुद्रित होगी, उसमें चित्र कार्टून, ग्राफिक्स क्या होंगे, इत्यादि डमी का हिस्सा होते हैं। हम कह सकते हैं कि

डमी मुद्रणीय सामग्री की ऐसी कुंजी है जिसे देखकर पृष्ठ का मेकअप किया जाता है। डमी बनाते समय विभिन्न तत्वों और सिद्धांतों को ध्यान में रखना होता है। डमी बनाते समय सज्जा की जो परिकल्पना की जाती है, वही मेकअप में साकार होती है। इसी उद्देश्य से पत्रिका की डमी बनाई जाती है।

डमी के पश्चात मेकअप शब्द की चर्चा आवश्यक है। पत्रिकाओं और समाचारपत्रों में इसका सर्वाधिक उपयोग होता है। मेकअप का अर्थ है पृष्ठ निर्माण जो समाचारपत्र और पत्रिका की समग्र संरचना अथवा डिजाइन के अंतर्गत प्रतिदिन किया जाता है। जब पृष्ठ पर छपने वाले सभी समाचार, फोटो, विज्ञापन आदि तैयार हो जाते हैं तब उन्हें पृष्ठ पर एक साथ जमाया जाता है। और इसी प्रक्रिया को मेकअप कहा जाता है। ब्रुस वेस्टले के शब्दों में- "Make up is largely a matter of placement of headline and art." जबकि श्री थॉमस एफ. बर्नहार्ट के शब्दों में, "Newspaper make up consists of dividing and using space. The space of newspaper page to accommodate type, illustrations and more often than not advertisement."

श्री बर्नहार्ट के उपर्युक्त शब्दों में पत्रिका और समाचारपत्र के सभी आवश्यक उपकरण जैसे टाइप, ब्लॉक, विज्ञापन आदि का उल्लेख हो गया है। इन परिभाषाओं में मेकअप की प्रक्रिया पर संपूर्ण प्रकाश पड़ता है। अधिकांशतः पत्रिकाओं की साज-सज्जा मेकअप से संबद्ध होती है। वैसे पत्रिकाओं की डिजाइन भी साज-सज्जा का एक महत्वपूर्ण भाग होती है, लेकिन पृष्ठ निर्माण की रोजमर्रा की समस्या मेकअप से ही संबंधित होती है। डमी बनाने के बाद मेकअप का कार्य किया जाता है।

तीसरा शब्द है लेआउट। साजसज्जा के संबंध में इस शब्द का भी प्रायः उपयोग होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है आकल्पन अथवा प्रारूप अर्थात् लेआउट होता है, जिसके अनुसार पृष्ठ निर्माण होता है। प्रायः संपादकीय विभाग अथवा कला विभाग की ओर से एक नक्शा बनाकर कंपोजिंग विभाग को दे दिया जाता है, जिसके अनुसार पृष्ठ का निर्माण किया जाता है। इसे ही लेआउट कहा जाता है। साज-सज्जा द्वारा हम समाचारों को अधिक से अधिक प्रभावशाली एवं आकर्षक ढंग से पाठकों के सामने रखना चाहते हैं। समाचारों का महत्व सर्वोपरि है लेकिन साज-सज्जा का महत्व भी कम नहीं है।

रेडर एंड स्टेम्पल के शब्दों में, "The quality of news and editorial matter more often than not is adjusted by makeup." अच्छे से अच्छा समाचारों का संकलन मेकअप के अभाव में चौपट हो सकता है और केवल मेकअप के सहारे ही पाठकों को अधिक समय तक आकर्षित नहीं किया जा सकता। पाठकों की पिपासा को समाचार ही शांत कर सकते हैं। इस प्रकार समाचारों का संकलन और साज-सज्जा एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों को सफल और प्रभावशाली होने के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है।

छोटे बड़े आकार के टाइप, फोटो, रेखाचित्र, शीर्षक रूल, डेश आदि समाचारपत्र एवं पत्रिकाओं के कलेवर हैं। इस सामग्री को पृष्ठों में इस तरह से जमाया जाता है कि वह पाठक को अपनी ओर तुरंत आकर्षित करे और समाचारों के चयन में पाठकों का मार्गदर्शन करे। डॉ. हरिमोहन के अनुसार, "पृष्ठसज्जा किसी समाचारपत्र-पत्रिका के महत्व के अनुसार समाचार एवं समाचारेत्तर, सामग्री के स्थान निर्धारण संबंधित आकर्षक छायाचित्रों-रेखाचित्रों के संयोजन, रंगयोजना, समाचारपत्र के आकार-प्रकार पृष्ठ निर्धारण की प्रक्रिया को कहते हैं, जिसके कारण वह समाचारपत्र-पत्रिका अपने आकर्षक समाचार के साथ पाठकों के हाथों पहुंचता है।" अमेरिकी विद्वान मार्क ट्वेन ने ठीक ही

कहा है कि समाचारपत्र का पहला कर्तव्य है कि वह सुंदर दिखे, यह कि सत्य बोले। सत्य के सुंदर की कल्पना हमारे यहां 'सत्यम् शिवं सुंदरम्' से की गई है। किसी दुल्हन के लिए मेहंदी, बिंदी, केश सज्जा, लिपिस्टिक आभूषण और परिधान का महत्व है, वही महत्व समाचारपत्र-पत्रिका के लिए पृष्ठ सज्जा का है। आधुनिकता के इस दौर में पृष्ठ सज्जा का महत्व अधिक बढ़ गया है। फैशन जनजीवन का अपरिहार्य हिस्सा बनता जा रहा है।

पृष्ठ सज्जा के बढ़ते महत्व के लिए तीन कारक प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं। पहला कारक है विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रसार। दूसरा प्रमुख कारक यह है कि समाचारों के विभिन्न माध्यमों के बीच परस्पर होड़ और विज्ञापन की बढ़ती भूमिका ने इसके महत्व को बढ़ाया है। संप्रति, हम समाचारपत्र और पत्रिका का जो स्वरूप देखते हैं, वह धीरे-धीरे पिछले अनेक वर्षों में विकसित हुआ है और युद्ध तथा यांत्रिकी इन दो महत्वपूर्ण तत्वों का इसके विकास में सबसे अधिक योगदान रहा है। भारतीय समाचारपत्र-पत्रिकाएं अधिकांशतः ब्रिटिश समाचारपत्रों से प्रभावित रहे हैं, जबकि साज-सज्जा के मामले में सर्वाधिक साहसिक प्रयोग अमेरिका में हुए हैं। लगभग एक शताब्दी पहले तक औपनिवेशिक समाचारपत्रों में साज-सज्जा का अभाव रहता था। उस समय के समाचारपत्रों की संख्या भी बहुत कम थी, उसमें छोटा सा शीर्षक लगाकर एक साथ लंबा सा समाचार छाप दिया जाता था। उस समय यदि पत्र में उपलब्ध स्थान पर मोटा टाइप, काले शीर्षक आदि लगाकर अथवा अन्य प्रकार के समाचारों का प्रदर्शन करके किया जाता तो शायद पाठकों की ओर से जबर्दस्त विरोध होता।

कालांतर में अखबारी कागज अधिक मात्रा में उत्पादित होने लगा और उसे बड़े आकार में छापने वाली रोटरी मशीनें भी उपलब्ध हो गईं। फिर भी अमेरिकी गृह युद्ध तक अधिकांश समाचारपत्र अपने प्रथम और अंतिम पृष्ठों पर विज्ञापन ही मुद्रित करते रहे। संपादकीय विचार तथा महत्वपूर्ण समाचार आदि अंदर के पृष्ठों पर ही छपते रहे। लेकिन गृह युद्ध जैसी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना ने अमेरिकी पत्रों की साज-सज्जा को पूरी तरह बदल दिया। पुलित्जर और हार्स्ट समूह की परस्पर होड़ भी इसी समय आरंभ हुई, जिसमें अधिक से अधिक उत्तेजक ढंग से समाचार देने की प्रत्येक विधि अपनाई गई। उसका प्रभाव आज भी मोटी सुर्खियों, लंबे-लंबे शीर्षकों और छायाचित्रों के बढ़ते हुए उपयोग आदि में देखा जा सकता है। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों ने अखबारों के रूप-स्वरूप को बदला किंतु यह परिवर्तन उतना व्यापक नहीं था जितना कि गृह युद्ध के समय का। जहां तक भारतीय समाचारपत्र और कालांतर में पत्रिका के स्वरूप का प्रश्न है, उनके स्वरूप में भी आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुसार परिवर्तन आया है और लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में आधुनिक टाइप और साज-सज्जा का प्रयोग होने लगा है। आउटलुक, इंडिया टुडे, कादंबनी और सरिता पत्रिकाओं की साज-सज्जा इसके जीवंत उदाहरण हैं।

साज-सज्जा के नियम और पद्धतियां-

श्री अलबर्ट ए सुटान ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिजाइन एंड मेकअप ऑफ दि न्यूजपेपर' में लिखा है- "कई मामलों में मुद्रण की डिजाइन करने वाले का कार्य रंग और कूची लेकर कैनवास के सामने खड़े चित्रकार के समान होता है। उनके उपकरण समान नहीं होते, लेकिन दोनों के कार्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपनी सर्जना शक्ति तथा उपलब्ध साधनों का उपयोग कितने उत्तम ढंग से करता है।" साज-सज्जा का काम करने वाले संपादक के लिए एक निश्चित आकार की लंबाई और चौड़ाई वाला अखबारी कागज उसका चित्रफल होता है। रंगों के स्थान पर बड़े-छोटे और हल्के-गहरे टाइप का प्रयोग करता है और उनकी कलात्मक सजावट ही

उसकी कूची है। इस प्रकार साज-सज्जा का उद्देश्य भी एक ऐसे पृष्ठ का निर्माण करना होता है जो पाठक को अच्छा लगे। यह कोई सरल कार्य नहीं होता।

लेआउट विशेषज्ञों का मानना है कि पाठक एक जैसा लेआउट देखकर ऊब जाते हैं। वे लेआउट में परिवर्तन चाहते हैं। अखबार को नई साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत करने से पाठक आकर्षित होते हैं। विज्ञापनों के लिए भी स्थान प्रायः निर्धारित रहता है। विशिष्ट प्रकार का लेआउट हर पाठक को रुचिकर नहीं लगता। यही वजह है कि हर दिन नवीनता और विविधता लेआउट की सफलता की कुंजी है। कुछ परंपरागत सामान्य नियम हैं जिनके आधार पर दिन-प्रतिदिन अखबारों की साज-सज्जा तैयार की जाती है:- 1. संतुलन अथवा बैलेंस, 2. फोकस, 3. विरोधाभास, 4. संगति अथवा हारमनी, 5. गति

संतुलन: किसी भी कलाकृति को सुंदर बनाने के लिए उसमें संतुलन का होना आवश्यक है। असंतुलित कलाकृति सुंदर और आकर्षित नहीं हो सकती। अगर किसी चित्र के एक ओर ज्यादा रंग लगा दिए जाएं और दूसरी ओर खाली छोड़ दिया जाए तो वह चित्र देखने में असंतुलित लगेगा। इसी तरह यदि चित्र के केवल निचले हिस्से में गाढ़े रंग का प्रयोग हो तो अच्छा नहीं रहेगा। जिस तरह से ताराजू के दोनों हिस्सों में संतुलन लाने के लिए उसमें दोनों तरफ एक सा वजन रखना पड़ता है, उसी तरह पृष्ठ के ऊपरी आधे भाग और नीचे आधे भाग का संतुलन ताराजू के दो पलड़े के समान किया जाना चाहिए। पूरे पेज में अगर दो चित्र हों तो एक चित्र फोल्ड के ऊपर और दूसरा फोल्ड के नीचे दिया जाना चाहिए। यदि पूरे पृष्ठ पर एक ही चित्र हो तो उसे पृष्ठ के किसी एक भाग में देकर दूसरे भाग में तीन चार कॉलम के मोटे अक्षरों वाले शीर्षकों और विज्ञापनों से पृष्ठ का संतुलन किया जाता है।

मोटे तौर पर संतुलन दो प्रकार का होता है। समसंतुलन, जिसे अंग्रेजी में सिमिट्रिकल अथवा फॉर्मल बैलेंस कहते हैं और असम संतुलन, जिसे इनफॉर्मल बैलेंस कहते हैं। समसंतुलन पुराने मुद्रकों को बहुत प्रिय रहा है। इसके अनुसार, पृष्ठ के बायें भाग में जो सामग्री जिस आकार प्रकार में दी गई है, उसी आकार प्रकार में दाहिने भाग में दी जाती है। श्री अलबर्ट ए. सुटान ने कहा, "Formal Balance is obtained when masses of equal weight are located at equal distances from the optical center, with the design so arranged that a straight vertical line moved dividing into equal units which will be super imposed if one half were folded over the other."

अमेरिकी समाचारपत्र 'न्यूयार्क टाइम्स' और 'रूटलैंड हेराल्ड' जैसे समाचारपत्र प्रायः इस तरह के संतुलन वाले पृष्ठों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भारतीय समाचारपत्रों में संपूर्ण संतुलन के नियम का पालन करने वाले बहुत कम मुद्रक हैं, लेकिन समाचारपत्र के ऊपरी और नीचे के भाग में प्रायः संतुलन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। कलाकृति अथवा विज्ञापन की डिजाइन में तो संपूर्ण संतुलन हो सकता है लेकिन समाचारपत्र के लिए यह संभव नहीं होता। अगर आपके पास पहले और दूसरे कॉलम में डबल कॉलम का एक समाचार उपलब्ध हो तो आवश्यक नहीं कि उतना बड़ा और उतने ही महत्व का दूसरा समाचार सातवें और आठवें कॉलम में देने के लिए उपलब्ध हो। समसंतुलन के अनुसार बनाया गया समाचारपत्र निःसंदेह आकर्षक दिखाई देता है लेकिन ऐसा करने के लिए समाचारों में बहुत अधिक खींचतान करनी पड़ती है। इससे कभी कभार समाचार की महत्ता भी कम हो जाती है।

इस प्रणाली का दूसरा दोष है- एकरसता। अगर समसंतुलन वाला पृष्ठ पाठक हर दिन देखता है तो वह उसे आकर्षित करने की जगह विकर्षित करने लगता है। इसलिए अगर समाचारों का महत्व

कायम रखते हुए संपूर्ण संतुलन प्राप्त किया जा सकता है तो प्राप्त किया जाना चाहिए अथवा असमसंतुलन भी पृष्ठ को आकर्षक बना सकता है। असमसंतुलन अथवा इनफॉर्मल बैलेंस केवल संतुलन पर ही बल देता है, संमित पर नहीं। इस प्रकार अधिक वजन वाली वस्तु संतुलन केंद्र से अधिक निकट होती है और कम वजन वाली वस्तु उससे दूर अव्यवस्थित होती है। वास्तविकता तो यह है कि असमसंतुलन में संपादक को अधिक स्वतंत्रता मिलती है और प्रतिदिन वह समाचार पृष्ठ को अधिक आकर्षक रूप में सजाकर पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकता है। दोनों के बीच मूल भावना यही है कि पृष्ठ बनाते समय संपादक को संतुलन के प्रति सचेत रहना चाहिए और असंतुलित पृष्ठ के निर्माण से बचना चाहिए।

फोकस: फोकस का शाब्दिक अर्थ होता है वह बिंदु या स्थान जो सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करता है। प्रत्येक आकृति में कोई बिंदु ऐसा होता है जो दर्शक का ध्यान सबसे पहले और सबसे अधिक आकर्षित करता है। पृष्ठ का निर्माण करने वाले के लिए यह बिंदु बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योंकि वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण समाचार को ऐसे ही स्थान पर प्रदर्शित करना चाहेगा। वह अवश्य जानना चाहेगा कि समाचारपत्र का पृष्ठ सामने आने पर पाठक की आंख स्वाभाविक रूप से किस बिंदु अथवा क्षेत्र पर पड़ती है। चक्षु संचलन के सिद्धांत का पालन हो सके और पाठक की नजर किसी एक भाग पर ही सिमटकर रहने के दोष से मुक्ति मिल सके यह आवश्यक है। समाचार के बीच का बॉक्स कार्टून, स्क्रीन अथवा इंडेंट डालकर भी आकर्षण पैदा किया जाता है। पाठ्य सामग्री (Text) और सफेद जगह (White Space) छोड़कर उत्पन्न किया गया विरोधाभास (Contrast) भी पृष्ठ संतुलन और आकर्षण उत्पन्न करने में सहायक होता है। अनेक सर्वेक्षणों के बाद यह स्थापित हुआ है कि समाचार पृष्ठ के प्रथम पृष्ठ को सामने रखने पर पाठक की आंख सबसे पहले ऊपर के दाहिने कोने पर जाती है। संभवतः इसका प्रमुख कारण है कि पूरे पृष्ठ में फैले हुए प्रमुख शीर्षक को पढ़ने के बाद स्वाभाविक रूप से पाठक की आंख दाहिने कोने पर पहुंच जाती है और इसके बाद उसे फिर घुमाकर बायीं ओर लाना उसके लिए कष्टदायक होता है। इसलिए उनकी आदत सी पड़ गई है कि वे प्रमुख शीर्षक के अंतर्गत दिया गया प्रमुखतम समाचार पृष्ठ के दाहिने कोने पर ही पढ़ें। इसलिए अधिकांश समाचारपत्र प्रथम पृष्ठ के ऊपर दाहिने भाग को ही केंद्र बिंदु मानकर चलते हैं।

विरोधाभास: पाठक के ध्यान को आकर्षित करने का सशक्त माध्यम विरोधाभास है जिसे अंग्रेजी में contrast कहा जाता है। समाचारपत्र के पृष्ठ में किसी एक बहुत वजनदार सामग्री को बहुत कम वजन वाली सामग्री से घेर दिया जाए तो विरोधाभास उत्पन्न होगा तथा वह पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित करेगा। यह विरोधाभास कई प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। अलग-अलग मोटाई वाले ब्लॉक विरोधाभास उत्पन्न करते हैं। विज्ञापन डिजाइन में कभी कभी खाली स्थान का उपयोग भी विरोधाभास उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। लेकिन साज-सज्जा के लिए विरोधाभास का उपयोग कभी-कभार किया जाना चाहिए क्योंकि इसके लगातार उपयोग से एकरूपता उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

संगति अथवा हारमनी: संगति का नियम विरोधाभास से एकदम विपरीत है। इसके अनुसार ऐसे टाइप तथा अन्य आकारों को एक साथ रखा जाता है जिनमें परस्पर सामंजस्य बैठता है। यदि किसी स्थान पर आवश्यकता से अधिक खाली स्थान छोड़ दिया जाए तो पृष्ठ का सामंजस्य नष्ट हो जाएगा। इस नियम के अनुसार पूरे पृष्ठ को एक इकाई के रूप में देखा जाता है और विशिष्ट आकार वाले

टाइप तथा ब्लॉक इस तरह जमाए जाते हैं कि वे देखने में विसंगत न लगे। संतुलन, विरोधाभास, फोकस आदि के पीछे भी मूल विचार यही रहता है कि पृष्ठ की एकता नष्ट न हो। यदि समूचे पृष्ठ की एकता नष्ट कर संतुलन अथवा विरोधाभास उत्पन्न किया जाए तो वह प्रभावकारी नहीं होगा। इसलिए एकता का नियम सर्वोपरि है।

गति: फोकस के संबंध में विचार करते समय यह देखा गया है कि समाचारपत्र का एक केंद्र होता है जिसकी ओर पाठक की आंख सबसे पहले आकर्षित होती है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि साज-सज्जा के द्वारा पूरे पृष्ठ की डिजाइन को इस प्रकार गति दी जा सकती है कि पाठक की आंख स्वाभाविक रूप से महत्वपूर्ण समाचारों की ओर आकर्षित हो। वैसे गति का नियम अधिकांशतः विज्ञापन की डिजाइन पर ही अधिक प्रभावी ढंग से लागू होता है जहां चौकोर फ्रेम के अलग-अलग भागों की रेखाओं और घुमावों से इस प्रकार जोड़ा जाता है कि दर्शक की आंख का पथ निर्धारित किया जा सके।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि डिजाइनरों को पत्रिकाओं और समाचारपत्रों का लेआउट और डिजाइन बनाते समय उपर्युक्त सिद्धांतों को संज्ञान में रखना होता है, लेकिन वर्तमान में न्यूज चैनलों, पत्रिकाओं और अखबारों की संख्या बढ़ने से उनके बीच गलाकाट प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। यही कारण है कि आज हर माध्यम ज्यादा बिकाऊ और दिखाऊ की होड़ में लगा है। संप्रति, लेआउट और डिजाइन एक मॉडर्न आर्ट की तरह है, जिसमें डिजाइनर को कई बार सैद्धांतिक आयामों की अनदेखी कर पत्र और पत्रिका को डिजाइन करना पड़ता है।

(शोधार्थी डॉ. मनोज कुमार सिंह के निर्देशन में शोध कार्य कर रहा है)

संदर्भ:

- White, Tom, "42 Excellent Examples of Magazine Layout Design for your Inspiration" <https://inspirationhut.net/inspiration/42-examples-of-magazine-layout-design/>- Published on 11 September, 2012.
- शर्मा, श्याम सुंदर, आधुनिक समाचार-पत्र मुद्रण और पृष्ठ सज्जा, मध्य प्रदेश ग्रंथ अकादमी, भोपाल संस्करण 2000।
- Westley, H. Bruce, News Editing, Houghton Mifflin, publication 1972.
- भनावत, डॉ. संजीव, संपादन एवं मुद्रण तकनीक, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर संस्करण, 2009।
- Barnhart, F. Thomas, Weekly news paper Makeup & Typography, Palala Press, publication 1998.
- सरकार, एन.एन., आर्ट एंड प्रिंट प्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी, 2013।
- Jirousek, Charlotte, Art Design & Visual Thinking, <http://char.txa.cornell.edu/language/principl/principl.htm>. Published in 1995.
- लिडबिडे, एम.एन., मुद्रण सामग्री प्रौद्योगिकी, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1995।
- शर्मा, कुमुद, भूमंडलीकरण और मीडिया, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, संस्करण 2013।
- Haslam, Andrew Book Design, Laurance King Publishing, 2006.
- कौल, जवाहर, हिंदी पत्रकारिता का बाजार भाव, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010।

Man and Nature in Jainism

Pradeep Kumar Tiwari

Department of Philosophy, J. P. University, Chhapra

Man and Nature in Philosophical Perspective

In the West philosophical thinking begins in Greek. Like all philosophical traditions in the world, Greek Philosophy also grew out of religion. This development is generally divided into two periods, the pre – Socratic and the post – Socratic. The former period is more important than later because it deals with nature. Its approach is mechanistic and it treats the source of world as water, air, fire, atoms etc. In this way this system is thought lays down the foundations of science. The later period introduces ethical and religious problem in a rational way. Thinker like Bertrand Russel also comments that this period “brought and obscurantist bias into Greek Philosophy.”¹

Greek religion had developed two distinct strands, the Olympian and the Dionysian or the Appollonian and the orphic.² The former was outward looking, finding its gods in natural objects and forces like the sun, wind, and fire; the later was inward – looking, mystic in character, endeavouring to find the origin of the world with the reason of man. Everywhere man feels the presence of reality both within himself and outside himself.³ Some may feel the presence of the external more strongly than that of the internal; others the presence of the internal more strongly than that of the external.

Naturally, because the outward depends on man’s experience of external objects, it encourages a scientific and observational attitude and a primitive kind of ethics based upon somehow – through science, magic, or sacrifice – controlling the forces of nature and controlling oneself according to them; often treating the forces as so many gods. But the inward develops a psychological religion and technique of inward self-control. These two attitudes and the two forms of self control may be intermingled in various degrees of unbalance when man loses confidence in himself and his thought, for some reason or other. When he has the confidence, he may be able to balance the two.

The earliest important philosophers of the pre- Socratic period are Thales. According to whom water was the origin of the world; Anaximander, who maintained that the origin was indefinite, unlike the concrete element of water; and Anaximene maintained that the origin was the source of world. All three conceived of the principle of the universe in terms of something outward, though Anaximene rose to the idea of the indefinite. So, this thought could rise above the concrete in that he could see that what is universal cannot be any of the particulars to which it can give rise.

The Pythagorean believed that the origin of the universe is number. The Pythagorean concept of number was crude and native, being that of shapes.⁴ In

this way all above thinkers not only provided due places to the natural resources but also considered them the ultimate reality. Water, air and fire are personified in a form of cosmic principle. God was no where in the above principles. They believed only in the spirit of man lying somewhere deep within himself. Among the first three thinkers mentioned, were naturalistic and mechanistic. So far Pythagoras is concerned he was inward that outward as P.T. Raju mentioned, "In Pythagoras there is much of the inward, but it is not clearly grasped. He could see that reason is higher than sense, but not clearly that is inward. The outlook was still cosmic and outward."⁵ In the same way F.M. Cornford mentions that water of Thales was also the Primitive living stuff.⁶

Heraclitus, the next most dynamic thinker maintained that change or becoming is the source of world. Yet the essence of the world is everlasting Fire, which is the moral judge as well. G. Misch holds "Fire coming upon us will judge and convict all things".⁷ In the Heraclitus Fire and the world are one and the same. Heraclitus says, "I have searched myself, and after the search I must have found the truth".⁸ As a cosmologist, however, Heraclitus did not notice the peculiar opposition between the inward and the outward, between man and his environment. He did not distinct between physical fire and inner light as in *Upanishads*, the *Tejas* and *Fire*.

It is Anaxagoras who was the first in the west to think of mind, nous, as an entity distinct from the rest of the universe. G. Misch writes, "Mind is unlimited and self – rules and is not mixed with anything, but is just alone by itself".⁹ The tendency to find the source of the world in the atomism of Democritus. He holds that the atoms have no secondary qualities and differ from each other only in shape and size. According to him soul is a sort of fire or heat. But by the time of Heraclitus and Parmenidesthinkers were looking for an abstract universal feature. In the doctrines of all the above philosophers, the distinction between inwardness and outwardness, soul and the material world, man and his environment, is not clearly noticed and worked out. We find a close relation between man and nature in early Greek philosophy.

Greek philosophy seems to have taken a rather abrupt turn with the rise of the Sophists by about the end of the fifth century B.C. Interest shifted from cosmology, cosmogony, and theogony to man and humanism, and a certain belittling of the former come into vogue. Warbecke has rightly noticed, "If no human advantage could possibly be derived from a study of evolution, or of atomic theories, why should one be bothered by them?"¹⁰ The creed of Sophists teaching as 'Man is the source of all things.' From here old discipline is gone, religion is ridiculed, and men have become selfish and sensual, because of the teachings of the Sophists.¹¹

The second phase is named after Socrates. His interest was more in ethics than in science and cosmology. But even for ethics, a theory of knowledge was necessary in order to obtain universally valid judgements.

Plato was an enthusiastic disciple of Socrates. In his religious thinking he provided secondary place to nature and primary to soul or reason. God has created this universe out of imperfect materials. God, the artist, designs the cosmos out of chaos, like a master craftsman, he brings the orderly world into being by reshaping disorganized primitive matter according to the blue print of eternal Ideals. William S. Shahkin has rightly remarked, "The soul (Ideals) of the newly created world unites with its body (matter); and it is the soul that gives the body beauty, order, goodness, direction, and purpose".¹² So world will never attain perfection. In this way Plato was the first thinker in Greek philosophy, who considers Ideals or intellect more superior than nature. His disciple Aristotle turns down his idea, "Aristotle regarded" says S. P. Peterfreund, "Particular field dynamically rather than statically".¹³ According to him matter is accountable for the individual thing. Nature has diversity in itself. The imperfections in nature are due to matter. The more material a thing is the more imperfect it is, while the more form it has actualized, the more perfect it becomes. Aristotle presented a series of matter. Non – living material objects, such as minerals would be lowest on such a graded scale since they are the closest approximation to brute matter. Next on the ascending scale of nature is vegetative life – the first form of living things; higher than vegetative life is animal life, still higher on the scale is human life, which is more ideal than the sub human forms, and finally at the summit is God, who is pure form, pure act, devoid of all potentially. Man's lower nature is co – ordinated by reason.

Man lost confidence in power of his reason to improve himself and his society; and therefore, the tendency of self – centredness grew. Man moves towards faith. In scholastic or Christian philosophy nature was considered inferior than man. Even to – day environmentalists criticize Christianity for his approach towards nature. Lynn White and Richard Means are of the view that " the present environmental crisis is the result of the interpretation of biblical teaching that man is to 'subdue', 'rule' and have 'domination' over nature which found concrete expression in the west. The crisis in ecology is Christianity fault – the fault being its understanding that nature has no reason for existence save to serve man".¹⁴

Actually Biblical teaching upon which scholastic philosophy is based, considers that firstly God created the heaven (city of God) and earth and all that is there in And behold it was very good. Created things have an existence in themselves.¹⁵ Secondly, 'God made only man in his own image'.¹⁶ This differentiated man from all other creation. God provided man dominion over all the earth. God permitted man 'the crown of creation' to have dominion and rule over all other created things. And from here man started to destroy nature.¹⁷ Thinkers like Augustine and other agree with the above views.

From here thinkers divide themselves into two schools: Materialism and Idealism. S. P. Peterfreund has correctly remarked that 'the idealist argues that

the materialist condemns man to live as a hopeless exile in a bleak world of dead things; the materialist charges that the idealist tempts man to escape into an airy world of idle fancies and dreams, which is man's proper task to reconcile himself to a stubborn world of fact or to assume his responsibilities as an integral part of an intelligible and purposive world order?"¹⁸

In Modern Philosophy Rene Descartes somehow represents the idealist school. He makes sharp distinction between mind and matter or spirit and nature. Under the influence of Christianity he is also of the view that man is to 'sub - due' and 'rule' the nature. In his metaphysical dualism he insisted that entire universe is composed out of two distinct and independently separate entities: mind and matter. Thinking is the attribute of mind while extension is the speciality of body. He considers that animals and lifeless matters function in a mechanical way while mind works under metaphysical spirit. W. S. Shashkin says, "All physical extended substance operates in accordance with the law of mechanics and functions like a machine. The body of each animal, like other physical things, is a machine without a soul".¹⁹ More or less this trend of thought has a long history and it is impossible for us to consider all them in this thesis.

In traditional ethics, we have two extremes. One is utilitarianism and the other is deontologist theory of morality. J. S. Mill is the champion of former while Kant represents the later. In opinion of J. S. Mill, man can rarely be ready to scarify for other men. E. M. Albert comments, "A sacrifice which does not increase, or tend to increase, the some total of happiness, it considers as wasted.²⁰ the above assertion of Mill stands man against nature. Deontologist Kant puts the problem on the opposite side and he bestows value. His maxim: act only on the maxim whereby those canst at the same time will that it should become a universal law. Every man is an end only because they are desired give us hypothetical imperatives; but if there is an end in itself, the imperative to seek it is independent of desire and is therefore, a categorical imperative.²¹ Certainly concept of value goes in favour of Nature and man.

Five Vows

In the above section, we have seen that remoulding of human's character is essential for the protection of nature and human beings themselves. Jain Thinkers have suggested five types of code of conduct through which one can change one's character slowly. These five cults are called vows (vratas) in Jain ethics. They are of two kinds: *Mahavratas* and *Anuvratas*. *Anuvratas* are propounded for the sake of common people living in the society and leading a worldly life, while *Mahavratas* are constituted for the *Sanyasi*. Jain thinkers have advised to follow these *vratas* by mind, speech and deed.

The first principle or *vrata* is *ahimsa*, which has a central place in jain's ethics. We have dealt it much before in the chapter but here we shall repeat it again for the sake of clarification. Here we shall raise the cause whereby the principle of

ahimsa may become fruitful to follow. Jain texts mention four kinds of instincts (*samjnas*), which are present, even in one – sensed beings. Those are: *ahara-samjna*, *bhay-samjana*, *maithuna-samjna* and *parigraha-samjana*. Even in plants we find craving, reproduction and collection for future. “They desire nourishment. At all times and without interruption the desire for food arises in them. It is transformed repeatedly in various ways by the organ of touch in the form of pleasant and unpleasant feelings”.²² In the case of matter that is assimilated through the surface of the entire body, for example amoeba. Amoeba and its process of nourishment is the invention of modern zoology, but jains have discovered it much before. Such intake is considered involuntary, in contrast with the voluntary consumption of “food by morsel” by two – sensed beings with a mouth, which accept or reject food based on the sense of taste. It is clear that one – sensed beings interact with the world around them.

Since human beings are subject to the various passions (*kasayas*) of anger, pride, deceit (*maya*) and greed, their actions under the compulsion of these passions, become volitional. Therefore, they are subject to commit such actions that can harm the domain of one – sensed beings and two – sensed beings. It is stated in Jain Canon that even one – sensed beings experience suffering after the unnecessary intervention of humans in their kingdom, through the sense of touch, “they have an equal feeling of suffering. All earth – bodied beings are devoid of a conscious mind and so they experience pleasure and pain (*vedana*) in an interminate way or with the absence of positive knowledge”. K. C. Lalwani states:

The Interminateness of pain is signified by the word *anida*. This is so because of wrong outlook and absence of reasoning, for which, like one under the spell of a drug or drink, they do not know what they are suffering from and how much is their suffering. They accept their suffering as fait accompli and are used to it. The same applies to the other one – sensed beings.²³

In the *Bhagwati Sutra* it is said that an earth – bodied being experiences pain (*vedna*) “as great as that of an old decrepit man whom a young strong man gives a blow on the head.”²⁴

Thus according to Jain sources, whenever matter in the form of earth, water, air or fire embodies a soul, it constitutes a living being, which breathes, nourishes its body, and sustains life in body. Like other beings, one – sensed being performs actions and will experience the *Karmic* effects of these actions. And it feels pleasure and pain through the sense of touch. As mentioned in the opening lectures of the *Acaranga Sutra*, even through hurting one – sensed earth beings may not be readily apparent through observation, a person can hurt them and cause them to suffer by cutting, striking, or killing them.²⁵

Returning to the discussion of twentieth – century environmentalists, if one were to use the material in Jain texts to interpret the statement that “one should be able to do what he wishes providing (1) that he does not harm others and (2)

that he is not likely to harm himself irreparably,²⁶ and defines “other” or “moral base class” as those with sentience or those who are aware”,²⁷ one would include not only non – rational fire – sensed animals but also life – forms with just one – sensed. In discussing the concept of moral rights or those beings that deserve moral consideration, Joel Feinberg has stated that “a being without interests is a being that is incapable of being harmed or benefited, having no good or ‘sake’ of its own” and that “interest” logically supposes desires or “wants” or “aims”.²⁸ It is clear from the above passages that in the Jain worldview one – sensed being can be harmed. They have the capacity to experience pleasure and pain, and they are aware because they have a *Jiva* or soul, whose defining characteristic is consciousness. They also have “desires” because they experience the effects of mohaniaya Karma, which generate passions of attraction (*raga*) and aversion (*dvesa*). Because of other Karmas, they are subject to the instinct of fear and the desire for food, for reproduction and for the accumulation of things of future use.²⁹ Kenneth Good Paster has expressed similar ideas regarding plants:

There is no absurdity in imagining the representation of the needs of a tree for sun and water in the face of a proposal to cut it down or pave its immediate radius for a parking In the face of their obvious tendencies to maintain and heal themselves, it is very difficult to reject the idea of interests on the part of trees (and plants generally) in remaining alive.³⁰

In the context of Jain sources, this would include earth – bodied, water bodied, fire – bodied, and air – bodied beings because they also need to nourish their bodies in order to stay alive.

There is also some similarity between Taylor’s definition of living beings as “teleological centres of life” whose goal “is to reach a state of maturity end to reproduce”³¹ and harm as interference with the fulfillment of an organism’s *telos* and the Jain definition of *himsa* as harm to the life forces or *pranas*, including the life force of longevity.³² In contrast with a specialist view whether “the interests of others matter only if they happen to be member of his own species”. Jain *acaryas* have maintained that “All beings are fond of life, like pleasure, hate pain, shun destruction, like life, sentient creatures should not be slain, nor treated with violence, nor abused, nor tormented, nor driven away”.³³

In examining the validity of an anthropocentric world view, the question has been raised by Paul Taylor: “In what sense are humans alleged to be superior to other animals?”³⁴ according to the teachings of Jainism, humans are different from all others being because they have a capacity that others lack: the ability to attain omniscience (*Kevalajnana*) and permanent release from the beginningless cycle of death and rebirth (*moksha*) Jains believe that fire-sensed rational animals can attain true spiritual insight (*samyak – darshan*), the first step towards moksha. It is said that animals who have attained this insight can observe restraint with respect to killing, and so forth and even refuse food at the approach of death. Thus, they are able to follow a mode of conduct equivalent to that of a person who has accepted the lay vows (*anuvratas*). However, an animal is

incapable of attaining more advanced states of spiritual purity that are a prerequisite for *moksha*. Only a human being has the ability to undertake the physical and mental austerities necessary for removing all destructive actions, which prevent a person from realizing omniscience and perfect conduct, from experiencing the true nature of the soul, and from attaining release from the cycle of death and re-birth.

Recently the government of Ecuador has made an act to protect the life of wild animals and nature too. Ecuador is a small Latin American nation. The government provided constitutional status to rivers, plants and wild animals for survival, development and to continue the life – cycle like human beings. It is a kind of constitutional right. Therefore, this is the responsibility of the concerning government and the society to conserve and protect them.³⁵

Jains have considered a similar question in trying to define the amount of *ahimsa* that one accrues from harm done to other living beings. In discussing why it is important for Jains to understand the number of vitalize (*pranas*) that different types of living beings have. J. L. Jaini states, “the degree of seen would depend upon the number of vitalities and their comparative strength, to which injury is caused. The knowledge of the varying number of vitalities possessed by souls in their various conditions of life enables one to judge the extent of injury he is likely to cause in his actions”.³⁶ By this definition, there would be a hierarchy of *himsa* or a sliding scale of spiritual harm, with progressively less harm to one’s soul from causing injury to a five – sensed rational animal, a five – sensed non rational animal, and so forth. The least problematic would be injury to a one – sensed being. While this idea does not directly translate into “more or less significance” the *Karmic* consequences from harming a five – sensed harming being and a one – sensed being are not considered to be equal.

Today there are practical considerations that need to be addressed when one contemplates putting into practice an environmental ethic that accords moral standing to what in Jainism are one – sensed being. If one accepts earth, water, fire and air in this category, then some way needs to be found to balance their well being with that of humans. For those who have not renounced the household life, a definition of well – being would, in general, include a certain degree of physical comfort that is afforded by having access to electricity, running water, mechanized transportation, adequate health care, shelter and clothing. These comforts are not possible without development and industrialization, which causes harm to earth, water and air. As Harold Coward has observed, “seeing earth, air, and water as being in different forms, as Jaina Karma theory does, provides an ethic that rejects the ruthless exploitation of natural resources that modern industrial development practices and the environmental pollution (including disasters like Bhopal) that result”. However, “the Jaina conception of Karma theory may be too radical in spite of its logical consistency, to be taken seriously by modern India”.³⁷

In earlier times, the question has been raised regarding what could be done to offset the spiritual harm caused to one – sensed beings by the activities involved in leading a household life. According to *Asadhara*, impediments to spiritual well – being caused by harm done to one – sensed beings could be eliminated by alms giving to ascetics.³⁸ In modern times, when it is not practical to avoid harm to the earth, water and air, what action could be undertaken to compensate for harm done to the environment from the way in which we live today? This question should be pondered with a view toward Jain perspectives on the nature and the one – sensed beings that constitute the environment of the earth on which we live. In this way, Jains establish a reciprocal relationship between man and nature and also provide them equal status.

References

1. Bertrand Russell, *A History of Western Philosophy*, New York Simon at Schuster, 1945, p. 63.
2. Marvin, *A History of European Philosophy*, 1920 ed. Chapt. III
3. Cf. modern existentialism, esp. kierkegard.
4. Russell, Op. cit. p. 35.
5. P.T. Raju, *Introduction to Comparative Philosophy*, motilal Banarsi Das, Delhi, 1992, pp.. 20-21.
6. F. M. Cornford, *Greek Religious Thought*, London: J. M. Dent and Sons Ltd., 1923, p.xxi.
7. G. Misch, *The Dawn of Philosophy*, London: Routledge, 1926, p.259.
8. Ibid., p.259.
9. Ibid., p.260.
10. Warbeeek, *The Searching Mind of Greece*, p. 113.
11. See for wide discussion, Frank Thrilly's, *A History of Philosophy*, New York, Henry Holt & Co., 1951, p.55.
12. W. S. Shahkian, *History of philosophy*, Barnes and Noble Book, Harper and Row, New York, 1968, p.55.
13. S. P. Peterfreund, and T. C. Denise, *Contemporary Philosophy and Its Origins*, Van Nostrand Co. Ins. Princeton, New Jersey, 1967, p.70.
14. Lynn White, "The Historical roots of our Ecological Crisis" in *science*, March, 1967, pp. 1203 – 07.
15. Genesis, Ch. I and 1 : 26.s
16. Ibid.
17. Francis A. Schaeffer, *Pollution and the Death of Man: The Christian View of Ecology.*, p.34.
18. S. P. peterfreund, Op.cit, p.63.
19. Shahkian, Op. cit. p.138.
20. E. M. Albert, *Great Traditions in Ethics An Introduction*, Eurasia Publishing House, Delhi, 1953, p.241.
21. Alexander Brain, *Mental and Moral Science*, Eurasia Publishing House, Delhi, 1953, p. 241.
22. *Bhagawat Sutra Sutak 1. Uddesaka 1, ssutra, 6.12.3-5*, p.8.
23. K.C. Lalwani, *On Bhagavati Sutra*, p.19.

24. *Bhagavati Sutra satak 19 Uddesaka 3, Sutra 33, p.890 (7666) as transl. by Deleu Viyahapannatti.*
25. *Acaranga – Sutra, 1.1.*
26. Sylvan, Op. cit. p.20.
27. *Collegiate dictionary, S.V.*
28. Goodpaster, “On Being Morally Considerable”, p.64.
29. *Jivajivabhigamana Ssutra, 134-39.*
30. Goodpaster, “On Being Morally Considerable”, p.65.
31. Callicot, “Introduction to Part – I: *Environmental Ethics*, p.4.
32. J.L. Jaini, trans. *Gommatasura Jivakanda, 92.*
33. *Acaranga – Sutra, 1.2.3.4., Jain Sutra, 19.*
34. Paul W. Taylor, “The Ethics of Respect for Nature”. In *Environmental Philosophy* ed. Zimmerman, et al. 79, Originally published in *Environmental Ethics* 3, No. 3, 1961, p.197-218.
35. *The Hindustan, dainik, Patna, 18.10.2008.*
36. J.L. Jaini, Op. Cit, p.92.
37. Coward, “*The Ecological Im; licaions of Karma Theory*”, p.42.
38. *Jain Yoga, P.122.*

Climate Change: A Philosophical Analysis

Abhimanyu Kumar

Research scholar, Department of Philosophy, Patna University, Patna

Climate change is a global problem in the present era. It affects the human species as well as other species across all ecosystems. It is basically an ethical issue but it involves social and philosophical issues too.

The concept of climate change is any long-term significant change in global temperatures and precipitation over time due to natural causes or human activity. Human activities contribute to climate change by causing changes in earth's atmosphere in the amount of greenhouse gases, aerosols, and cloudiness. The largest known contribution comes from the burning of fossil fuels, which releases carbon dioxide gas to the atmosphere. Greenhouse gases and aerosols affect climate by altering incoming solar radiation and outgoing infrared (thermal) radiation that are part of earth's energy balance. Changing the atmospheric abundance or properties of these gases and particles can lead to a warming or cooling of the climate system. Since the start of the industrial era (about 1750), the overall effect of human activities on climate has been a warming influence. The human impact on climate during this era greatly exceeds that due to natural change in natural processes, such as solar changes and volcanic eruptions.

Climate change is an ethical issue, and we must face it as such. That means asking hard questions about responsibility, accountability, and the differences between actions – whether political, economic, or wholly personal- that are right versus those that are wrong.

Climate change is one of the most significant environmental challenges of our generation. According to Gardiner's author of the "Perfect Moral Storm." Climate change represents the perfect moral storm based on our moral values and how we are able to react to moral problems. Gardiner states that the moral storm represents the idea that rich people are knowingly imposing large burdens on the poor. Dealing with such issues consists of looking into the responsibility, accountability, and the ethical differences between political, economic, and personal actions. The moral concern of climate change refers to how we feel about the environment individually, rather than what we commonly agree on. Some people have opposing views towards climate change, and whether the way we treat the environment is moral or not, most societies can agree that it is unethical to pollute, exploit, and abuse the environment. Allowing global warming to continue is irresponsible due to the impact it will have on future generations.

Philosopher Aldo Leopold argues that humans tend to treat the environment as property by abusing natural resources; similar to the way we have historically treated slaves with a lack of respect. Ethical issues are derived from everyone's actions based on their moral and ethical perspective. Since our actions today will have an impact on the world tomorrow, we must do what is right to prevent future environmental disturbances. It is important to distinguish between right from wrong actions for the care of nature and the development of human society (Leopold 226). Leopold's argument, states that the concept of ethics will evolve over time. As people are faced with various experiences and situations, our perception of what is considered to be right or wrong tends to change. Similarly, humanity will come to terms with environmental ethics and over consumption, and deterioration of natural resources will soon be viewed as unethical.

The central cause of climate change is linked with human behavior in terms of how we treat our environment directly and indirectly. The direct approach includes the decisions we make a daily basis, like driving, which releases harmful gas into the air. The indirect approach is associated with major corporations' process of production, which is a result of individuals being consumers, by supporting these companies with purchasing their products.

The concern of extraction is very critical. Consequently, we are running out of natural resources. The effects of climate change lies within human action. The increase of climate change is essentially the result of human action, and since humans have caused the damage, we have the ability to prevent further damage and preserve the environment (Gardiner p. 19).

Ethical principles are the essential solution to the climate change. As humans, we tend to inspire others to be compassionate about our environment. According to Pojman, "action-guiding principles are the essence of morality" (Pojman 153). Having moral principles makes a person virtuous, which is fundamental in performing the right actions. As Leopold states in "Eco-centric ethics", if we widen our community to the plants and the animals, we will have a moral right to protect our community and take care of it by respecting the plants, animals, and the land, because it is one of our own. Other significant factors toward potential solutions involve reducing consumption and realizing the natural resources are finite. The land, the commons, and the overall environment must be regulated.

As members of society, we can contribute to further improvement by supporting government regulations and policies that help protect the environment. We must also influence others to be environmentally cautious and reduce consumption.

Potential solutions for global warming consists of ways to preserve the environment, and provide a better and healthier community for the future by obtaining a low carbon energy development. It is important to decrease the amount of greenhouse gas emissions. Air pollution is caused by gas emissions and it is very harmful to both humans and animals. It causes deterioration of

the Ozone layer protecting our planet from harmful sunrays that could jeopardize all the lives it sustains. The best moral argument for greenhouse gas emissions would be to come up with an alternative way of using gas emissions that are less harmful to the environment. By using different methods associated with the innovation and technology, we would be able to use natural resources in moderation and not stop abusing the environment. These strategies would help society take the first step towards stabilizing and maintain the planet's overall health. Other important factors include educating individuals through school, media, Internet and word of mouth, which helps spread awareness of current environmental issues.

The most important factor of preserving the environment is to by adapting a better life style of taking care of our planet. According to the virtue-based ethical theory, morality requires us to be virtuous individuals by acquiring good character traits, and not simply acting in accordance to moral rules (Pojman 153). Being virtuous individuals, our actions can influence others to promote the greater good by preserving the environment through the daily decisions that we make. Having action-guiding principles are essential to being moral, and being virtuous consists of utilizing the moral principles guidance for performing the right actions. Doing so, we are capable of setting examples to one another of how to preserve the environment and be more conservative, which is the most effective approach towards progress.

Climate change involves serious ethical issues especially in its global, intergenerational, and ecological dimensions. Despite challenges owing to under developed theories and pragmatic issues, there is an important initial consensus concerning the need for and the overall shape of serious action and the relevance of key ethical concerns, such as fairness and responsibility.

References

1. Ethics and global climate change: Stephen M. Gardiner (2004), p. 19.
2. A perfect moral storm: The Ethical Tragedy of climate change by Stephen M. Gardiner, p. 6
3. Ethics: Discovering Right and Wrong by Louis P. Pojman (2011), p. 153
4. Ecocentric ethics: The land ethic by ALDO Leopold, p. 226.
5. The effect of climate change – Peter Robinson (1988), p. 88
6. The ethics of climate change: Right and wrong in a warming world.

Child Labour: Problems and Prospect in Bihar

Vijay Kumar

*Research Scholar, Economics, Nautan, W. Champaran,
B. R. A. Bihar university, Muzaffarpur*

Children, the real form of wealth of a nation have been deprived of the benefits of overall economic development. Child is the father of the man, it is a well-known proverb accepted all over the world. But with the socio-economic and cultural development, the people residing in lower strata of our society are compelled to take their children to work for their livelihood. i.e. the parents living in insufficiencies have been compelled to divert their children from school to work place.

Children are engaged in varying forms of activities such as domestic work, work in the household, enterprise or farm and wage work. It is necessary to draw a line between child labour on the one hand and activities considered part of a natural socialization process on the other, where children could combine other childhood activities with the limited work roles assigned to them.

Work may become a burden and serious risk to children on neglecting their social and educational role. In such a case, work predominates and places children under severe stress. It becomes a danger to their healthy development and future prospects. It is in this context that child work is exploitative and abusive. In other words work that impinges on children's right to education, play, leisure, mental, physical, spiritual and psychological development is child labour.

Having seen the multidimensional exploitation of child labour in our country and abroad and policy prescriptions undertaken by our policy-makers for providing safeguard to the children not only for their brighter future but also for the formation of healthy and wealthy society. Growth with social Justice is the precondition of our constitution. But the increasing trend of number of child labour have attracted the researchers, academicians social activists and policy makers to come and diagnose the basic cause of this chronic disease for the betterment of the society. According to recent NCAER study, 12.42 percent of children in the age group of 6-14 years are never enrolled in any school.

In the statistics, various form of "child labour" are generally collapsed into one. Case should be taken to isolate child labour as a category separate from "child work" and "child deprivation". By adding up all children that in one way or the other are not attending school full-time or are attending school but are engaged in some "working activity" or the other, the incidence of child

labour has been blown out of proportion. According to some sources, India is supposed to have more than 100 million working children.

If we want to know the reasons why children are “nowhere”, i.e. neither in school nor in a work place, the explanatory factors need not be related to the factors that are at the root cause of why children do hard labour. The various learned multivariate probit and regression analysis exercises do not make that distinction. Independent correlates in such exercises are calculated to have a positive or negative impact on child. Conclusion then often suggest that poverty, nutritional poverty, indebtedness, literacy, work participation, the number of children and the size of the cattle herd are important factor.

I shall later argue that authors who put the responsibility for child labour on the parents of the child labour itself, rather than on a system, or an entrepreneurial class. I first intend to look at two explanatory variables: culture and poverty.

Traditional modes of living dating back to a cultural in which works was not a distinguishable activity but was tied up with routines did not distinguish between work and labour. Children were gradually initiated into the world of the audits. Quite a lot of what has subsumed under child labour, and such has entered the statistics, is work performed Africa and Assia reside in the countryside and assist on the family farm. The opportunity to do such work, in the transition from toddler to adulthood, is something to be encouraged. The child is being socialized in community in a specific society. Light work, which does not pre-empt the adulthood and a positive element in the child's development. It may also have a qualitative impact on work attitudes in general.

In developing countries there tends to be a difference, even a rift, between manual workers and the (male& female) elite. The “work” practice at a hast of other activities may help to better understand, to better respect and to better appreciate the meaning of work and labour. This consideration is one reason why the work done by children should be analytically categorized. Having said this, one should also be weary of attempts to condone the position as ‘future workers’ that may children are caught in many have argued that the work done by children-on the farm, in the artisanal shop or in petty trading-has served as a form of apprenticeship, preparing them, better than any formal or informal school system could, for the income generating profession in adulthood. It is an argument that can be found in many books produced by third world scholars who wish to stress the cultural exclusivity of their tradition .In the overview by Mishra and Pande, the exponents of the socialization theory of child labour argue that the socio-cultural frame work of a pesant society “emit such socio-economic processes whereby the use of childlabour is socialized as an integral past family-oriented social and institutional order”.

The assumption behind the argument is that socialization within the poor family, with its different norms and expectations, is different from the norms

and expectations associated with the modernizing state, such an argument, rather than poverty, was also noticeable in the report of the Department of labour of the US Government, written after senators Tom Harkin and George Brown had introduced the child labour Deterrence Bill.

Now before going in detail about the direction and magnitude of child labour in Bihar it would become pertinent to throw a flash of light on the comparative picture of the magnitude of child labour and its direction during four consecutive and 2001 amongst the various states of India. To have an easy understanding it would be advisable to present the whole data in the table 1st.

TABLE I: State wise Distribution of working children according to 1971,1981,1991 and 2001 census in the age group 5-14 years.

S.No.	Name of the state /UT	1971	1981	1991	2001 ****
1.	Andhra Pradesh	1627492	1951312	16611940	136339
2.	Assam*	239349	***	327598	351416
3.	Bihar	1059359	1101764	942245	1117500
4.	Gujarat	518061	616913	523585	485530
5.	Haryana	137826	194189	109691	253491
6.	Himachal Pradesh	71384	99624	56438	107784
7.	Jammu&Kashmir	70489	258437	**	175630
8.	Karnataka	808719	1131530	976247	822615
9.	Kerala	111801	92854	34800	26156
10.	Madhya Pradesh	1112319	1698597	1352563	105259
11.	Maharashtra	988257	1557756	1068427	764075
12.	Jharkhand				407200
13.	Uttaranchal				70183
14.	Orissa	492477	702293	452394	377594
15.	Punjab	232774	216939	142868	177268
16.	Rajasthan	587389	819605	774199	1262570
17.	Tamil Nadu	713305	975055	578889	418801
18.	Uttar Pradesh	1326726	1434675	1410086	1927997
19.	West Bangal	511443	605263	711691	857087

Note:- *1971 Census figures of Assam includes figures of Mizoram.

**Census could not be conducted.

****Includes marginal workers also.

Having seen the data of table 1st, one can easily be concluded that during the census years 1971,81,91 and 2001 the magnitude of child labour reflects that during 1971 to 1981 the magnitude of child labour were increased throughout the country except Kerala & Punjab where the number of child labours were decreased. where during 1981 to 1991, the magnitude of child labour was reduced except West Bengal. During 1991 to 2001 majority of states indicates

the downfall in the number of childlabour .As it is evident from the data of table 1st. So that a true picture of child labour and its nature can be judged.

As it is reflected by the vision for accelerated inclusive growth in 11th five year plan of Bihar that the present Bihar government under the leadership of shr Nitesh Kumar, is very much prompt to accelerate the process of development and will try its best to resume the glory of Bihar. But Bihar , after the separation of Jharkhand has become a predominantly agricultural state. And due to lack of sufficient infrastructural facilities necessary for inclusive growth of agricultural, the condition of Bihar agriculture is not good and able to absorb by the fast growing population of Bihar .Except agriculture ,the scope of employment in Bihar is very limited and negligible . Because , after the speration of Jharkhand, Bihar industrial area is based on sugar industries located in various destricts of Bihar. Though the scope of employment in sugar industries are quite more but the condition of sch sugar industries too much-more depends upon the condition of production and productivity of sugarcane.

The cultural explanation is not necessary distinct from the poverty explanation. It has often been argued that child work was essential to the survival of the children and their families. It indeed is obvious that , by and large poverty is an important reason why children work. If they were not to work m survival of the entire family could be at stake. Child as a matter of fact can be beneficial the the child, not only in terms of the preparation for thew tasks of the adulthood, but also in terms of divert improvement of health condition since labour adds to the family income, it will add lto the nutritional intake of ;the young worker, and the morbidity levels of the working child even be lower than the levels prevailing among comparable counterparts with these considerations in mind , it is not uncommon to divide child labour in four categories , from intolerable to hazardous and natural and ending up with varieties of child work, which even may have a positive impact on the future adult.

Acute poverty is usually advanced as a reason for sending children to work. This obviously is an explanation which hardly requires neither substantiation nor verification,it is common sense to accept that the poorer the family , the poorer ,the district, the poor the country , the higher the incidence of child labour . A closer observation, however, suggests that this is the case in a restricted sense only.

In accordance with the principle of purposive sampling we have select two development blocks from each selected district , Adapur and Ghorasahan blocks are selected from East Champaran district and Nautan and Majhoulia development blocks are selected at random from the various development blocks of W. Champaran district.

To ensure the household survey five revenue villages from each selected development blocks are undertaken for household survey.While ten sample

households are selected at random for detailed household survey. But in this selection, household having childlabour are given priority in sample selection. i.e. in this way we have $2 \times 2 \times 5 \times 10 = 200$ households for detailed households survey. A list of selected villages are presented in the following table no. II nd.

TABLE NO. II: Detailed list of selected villages for household survey.

Sr. No.	Name of District	Name of Development Block	Village
01.	East Chamsparn	(1) Adapur	1. Chainpur 2. Bhawanipur 3. Kachorwa 4. Andhara 5. Dhabahabwa
02.	West Champarn	(2) Ghorasahan	6. Jamunia kawaia 7. Basantpur 8. Singhrahya 9. Gurmia 10. Barwa kalan
		(3) Nautan	1. Baikunthawa 2. Telhua 3. Khadda 4. Siwrajpur 5. Balui
		(4) Majhoulia	16. Joukatia Naiedih 17. Majharia 18. Karamwa 19. Awahar Shekh 20. Ramnagar Bankat

Source:- Census Report available at District Head-Quarter and the list of village taken from JPS of concerned blocks.

The first problem with this explanation is that poverty is difficult to define and that poverty in any case is more than economic poverty. There are certain thresholds below which people will find it difficult to survive. These thresholds are defined by nutrition, sanitation, health and shelter. At the level of deprivation, below these minimum thresholds, there is not much of an option between work and non-work. Deprivation often comes as a 'shock effect, the dead or severe illness of the adult breadwinner has often been underlying child labour.

Up to now, the focus has been on the push factor. Much research on the causes of child labour indeed tends to concentrate on the supply factors. Apart from the common view the poverty is pushing poor children into the labour market, there is also the pre-occupation with the victims, and the life conditions they have to cope with. Neo-classical economics is based on the multivariate analysis of supply (and demand) factors. The individual author is expected to take decisions and to take these decisions on the basis of a rational choice. The

rational choice. The choice is conditioned by various variables (literacy of Parents) level of poverty, number of children, gender, etc.)

It is well-known that many poor parents bear children in order to enhance family income. As economists say children are viewed as economic assets not as economic liabilities. Indian policy makers accept as the basis for policy the fact that childbearing for low-income Indians is part of their strategy for family survival and well-being.

The struggle for survival underlies the need to work. That is the push factor in the poverty-stricken families. But there also should be a pull factor at work, the external force which pulls children towards the furnaces and the looms, towards the kilns, the quarries and the brothels. In research, the pull factor should receive more attention, as also suggested by the ILO.

Research on the causes of child labour tends to concentrate on the supply factors both because of justifiable pre-occupation with the victim, and because of the commonly shared view that poverty is the driving force. But the demand for child labour plays a critical role in determining the involvement of children in hazardous work.

Conclusion

For an efficient and realistic intervention in policy matters, a differentiation needs to be made of the different categories of disenfranchised children, the labouring child, the working-cum-schooling child and various other disabled children who are usually referred to as nowhere children. A clear analysis will also help us to have a better understanding of the causes of child labour, although one should add that causes tend to be multivariate, and that explanations need to be found in the structure (of poverty, modes of employment, labour relations, etc.) as well as in agency.

Many exercises aimed at finding correlations have treated "Child Labour" as an all-inclusive category. Using such a category will add to the confusion. One need not go into complicated exercises to establish that child labour has something to do with poverty, literacy, high fertility, etc., and we have suggested to look at causes after first having separated child labour from child work and nowhere children. After we have isolated "child labour" as such, we could then look more at the pull forces than at the push forces. After shifting some of the blame away from parents to child labour employers, it would help us to explain the paradox of high poverty areas with low child labour incidence and other way round. In areas where one could expect more push forces because of poverty and illiteracy, child labour incidence is lower than in areas where levels of poverty and illiteracy are considerably lower. Our suggestion is that the specific labour market segmentation, with a low reward for labour power and high levels of employment under conditions of social, economic and political submissiveness, is a key to an explanatory model.

References

- Emerson, Patrick M. and Andre Portila Souza. 2002. Birth order, child labour and school Attendance in Brazil, manuscript, May.
- Fishback, price v.1998 Operations of unfettered labour Markets: Exit and voice in American labour Markets at the turn of the century. Journal of Economic literature.
- Fleisher, Belton and Xiaojun Wang. 2001. Skill Differentials, Return to schooling and market segmentation in a transition economy.
- Burra, N(1995) Born to work child work in India. Delhi, Oxford University Press.
- Chaudhri, D. P. (1997) Female child labour and Gender Bias in school Education in Indian states, Indian Journal of Labour Economics.
- Cigno, Alessnadro, Furio C. Rosati and zafiris Tzannatos (2001). Child Labour Handbook. Washington: The world Bank. manuscript.
- ILO (1996) child labour. Targetting the Intollerable. Geneva: ILO
- Weiner, myron (1991). The child and the state in India Delhiss: Oxford university press.
- National Labour Institute tools for convergence. Noida: V.V. Giri National labour Institute (various booklets).

Accounting for Responsibility in an Organization

Dr. Nasir Ahmad

Guest Faculty, MMHAPU, PATNA

Time to time changing economic condition in our country is major task for industrial sector. Every person of any level of management is responsible for how to adopt the new environment in the concern and sustain the life of organisation in the future course of action. The most inevitable requirement for strengthening the efficiency and effectiveness of working and maintaining financial soundness of the enterprises is the arrangement for appropriate decision making. Availability of accurate and reliable information at the right time to the right person is the vital ingredient in decision making process.

Authority, responsibility and accountability are very important terms in management. These are the basic premises of the process of managing. No organisation can do anything without delegation of authority and assignment of responsibilities to various positions and jobs.

The authority to manage a business, in our legal economic system, stems from ownership. This power is passed downward-delegated-from the owners to responsible members of the organisation charged with the attainment of the economic goals of the company. Concomitant with the power to manage is accountability for results. The larger and more complex the organisation, the greater is the reliance of top management on an effective system of delegation of authority and accountability for results. This concept of accountability attaching to delegated duties forms the basis of responsibility accounting and budgetary control.

Responsibility is the obligation of a subordinate to perform assigned duties. Responsibility of a person can not be bounded with limit. He has social responsibility, political responsibility and responsibility for a nation. It may be specific or a continuing in nature. It can't be delegated.

It is often asked that how would responsibility of a person or subordinate can be judge. Responsibility Accounting (RA) is the best solution for such problem. It is one of the important accounting control system which depends all the decision related with costs, profit and investment.

Responsibility Accounting

This accounting control system was developed after 1916 when Feyol's philosophy universalised with his famous book "General and Industrial

Management" but a systematic approach and concept first time given by John A. Higgings in 1952 who observes:-

"In effect, the system of responsibility accounting personalizes the accounting statements by saying, " Joe,this is what you originally budgeted and this is how you performed for the period with actual operations as compared against your budget". By definition, it is a system of accounting which is tailored to an organization so that costs are accumulated and reported by levels of responsibility within the organization. Each supervisory area in the organization is charged only with the cost for which is responsible and over which it has control.

Importance of Responsibility Accounting

This new approach to accounting and reporting is the development of an accounting system designed to control expenditures by directly relating the reporting of expenditures to the individuals in the company organization who are responsible for their control. This system results in the preparation of accounting statements for all levels of management, designed primarily so that can be effectively used by the operating people as a tool in controlling their operations and their costs. This system also makes possible the operations of a good budgetary system. No budget system is fully effective unless it is built one basic philosophy, namely that each responsible individual in an organization must feel that the budget is this budget and not something forced upon him which he might feel is unrealistic and workable. Unless the responsible individual does not feel that it is his budget, he will only make a superficial attempt to live within it or use the information as a mean of controlling his operations. Responsibility accounting provides following advantages.

- (i) It is the best tool of cost control.
- (ii) It increases efficiency is system of budgetary procedure.
- (iii) It determines responsibilities of supervisory staff.
- (iv) It is helpful to make best planning and policy.
- (v) It is helpful to measuring variances and activities of each centers and provides a system for prevent ultraion in costs.
- (vi) It is helpful for measuring performance of individual's responsibility and provide information for develop new idea and direction for future course of action.

Objectives Of Responsibility Accounting

The main objectives of RA is the typing of the accounting control system within with the organization and responsibilities of departmental managers and supervisor. It determines responsibility centre in which the responsible person effectively and efficiency as possible as discharges his function. The major plank of RA to control the cost at the centre where they are incurred.

Generally speaking “How to apply this accounting method in an organization”. Many conventional accounting systems are not helpful to the needs of evaluating responsibilities for cost control. Arthur Anderson & Co., an international firm of certified public accountants, has justified such problems from a report based on its study and application. Accounting to this report there are two main objectives of cost accounting in manufacturing companies. Cost control and Product Cost. The cost system of most companies meet the latter objective, but for the most part on their faces when it comes to the objective of real cost control.

Responsibility Centres

In the focus of cost control, a manager needs to know two things (i) what their costs should be : (2) what their costs were. It is the function of the budget to provide first set of information. Responsibility accounting will provide the second. Under this system responsibility decentralised in three ways.

- (a) cost centre
- (b) Profit centre
- (c) Investment centre

Cost centre is very important centre and division manager is essentially responsible for minimizing costs and prevent wastage. A profit centre is a segment of a company where the manager has control over revenue as well costs but does not has control over the amount of investment in the segment. Budgets, variance analysis and performance reports continue to play an important role in the control of both the centres. Those divisions of departments where the manager control revenues, costs and investment is called investment centre. Return on capital concept, budgets and performance reports can be used to control this centre.

Organization Chart

An organization chart is “ the back of responsibility accounting” provides a broad picture of positions of authority and their relationship in the organization structure. An organization chart of the imaginary ABC Manufacturing Company shows a president and general manager and three vice-presidents are indicated to head up the basic divisions : production, sale and finance. In addition to these three vice presidents, there is a chief engineer and a personnel manager reporting directly to the president and General Superintendent who is responsible for seven productive departments, each in charge of an individual form.

Anchor Chart

Anchor chart tends to emphasize the parallel relationship of the levels of responsibility and the reports which are direction at each levels. it relates levels. It relates to responsibility reporting.

Responsibility Reports

Each productive department is responsible to give performance reports of particular to General Superintendent and General Superintendent is responsible to Vice- President of production and Vice- President (production) is responsible to President.

Responsibility Reports based o:

- (i) Controllable expenses and Productive labour (forman)
- (ii) Productive departmental cost summary of ea departments.(Gen. Suptt)
- (iii) Factory cost summary (Vice- President-Production)
- (iv) Costs summary report (Reporting to President)

One of the features of RA. a clearcut distinction is made between controllable cost and non-controllable cost. There are two important, point should be remembered (a) The time period is important. because all costs in long period would be controllable and as the period shortens, very few costs may be controllable.

Conclusions

Organization for responsibility accounting is not only a structure of duties, responsibilities and authority relationships but it is as well a human organization consisting of formal and informal social groups. Attitudes and emotions. hopes and fears, likes and dislikes of employees play a great part both in transforming the organization into an instrument of creativity and in maintaining as an upholder of stability. Responsibility accounting does not involve a drastic change in accounting theory or principles. it is for the most part a change in emphasis from product cost to the cost control aspects of accounting where in the statements to management emphasis from product cost to the cost control aspects of accounting where in the statements to management emphasize the control of costs by reporting and summarizing them on the basis of " who did it" before they are adjusted and blended for product cost purposes to obtain the conventional financial statements. In other words, it is a system which emphasize the information that is useful to operating management and deemphasizes the accounting and book keeping aspects that clutter up so many of our financial statements today.

References

1. Rechar M. Lynch, Accounting for Management. University of Notre Dome, Mc Graw Hill Publishing Co. Ltd.
2. John. A Higgins, " Responsibility Accounting" The Arthur Anderson Chronicle, April 1952 Vol. 12 No.2.
3. S.N. Goyal & Monmohan, Priciples of Management Accounting, Sahitya Bhawan, Agra 1982.
4. L.M. Prasad. Principles of Management, Sultan Chnad Co. Delhi, 1994.
5. R.N. Anthony, Management accounting: Home wood, III., Richard D. Irwin, Inc., 1960.
6. Rechar M. lynch, Accounting Dr manog.
7. Movris B. Hurlay, Burines Administration., New Delhi Prentle Hall 1980.
8. George R.Terry, Principles of Management, Home wood, III., Rechar D. Irwin 1978.

Marginal Costing and Break-even Analysis

Dr. Kapil Harit

*Assistant Professor, Department of Commerce,
Shaheed Bhagat Singh College, Delhi*

Businesses of all sizes, including small businesses, need to have a firm grasp on the concepts of marginal revenue and break-even point. Without this knowledge, businesses are left floundering when it comes to pricing structure, a vital part of maximizing profits and ensuring continued business success and future growth.

Break-Even Point

In simple terms, the break-even point represents how much of a good or service a business must sell to cover the costs associated with producing that good or service. At this point, the business doesn't lose money, but it also doesn't make a profit. Included in a break-even analysis are the fixed and variable costs associated with production and the price at which the business wishes to sell a product or service. A business can determine the quantity of a good or service it needs to sell in order to break even by dividing the total fixed costs by the difference between the average price per unit and average cost per unit.

Marginal Revenue

Developing a pricing structure for a good or service also requires an understanding of marginal revenue. An economic concept, marginal revenue is the additional revenue a firm gains by selling an additional unit of a good or service. When marginal revenue is greater than the additional costs associated with producing an additional unit, known as the marginal cost, revenues will increase. Profit-maximizing firms seek to produce the quantity at which marginal revenue is equal to marginal cost.

Correlation

Understanding the break-even point for a good or service can help provide a solid foundation for evaluating how changes in pricing or costs can affect production and in turn, profit or loss. The goal of most businesses, however, is to make a profit. That's where the concept of marginal revenue comes in to play. Applying the concept of marginal revenue can help you evaluate how to maximize profits going forward. For instance, if the break-even point for a good occurs when 10 units are produced and sold for \$50 each, marginal revenue will become an issue for all quantities demanded above 10. While this is a good

problem to have, meaning demand is greater than your minimum requirements to break even, it's important to understand that for most businesses profit maximization requires producing the amount at which marginal revenue is equal to or greater than the additional costs associated with production.

Considerations

The break-even point and marginal revenue of a good or service should be evaluated on a regular basis since several factors can change and influence the outcome. This includes changes in the costs associated with production, such as raw materials, labour and fixed costs. In some instances, a price increase may help to offset the increased costs. Price increases can occur through a direct price increase or through the creative bundling and up-selling of complementary products. In other instances, reducing costs through supplier contract negotiations or outsourcing can create some much needed breathing room.

Marginal Costing and Absorption Costing Versus Direct Costing

Total absorption costing (TAC) is a method of Accounting cost which entails the full cost of manufacturing or providing a service. TAC includes not just the costs of materials and labour, but also of all manufacturing overheads (whether 'fixed' or 'variable'). The cost of each cost centre can be direct or indirect cost. The direct cost can be easily identified with individual cost centres. Whereas the indirect cost cant be easily identified with the cost centre. The distribution of overhead among the departments is called apportionment.

Primary Apportionment or Distribution of Overheads

The selection of the base on which overheads are or should be apportioned depends on the following principles:

- Service or use basis: If the benefit obtained by various departments from the overheads can be measured, overheads can be apportioned on that basis.
- survey basis: If amount of overhead cant be measured survey basis can be applied. For example, if it can be noted that a supervisor is giving 60% of his time to one department and 40% to another his wages can be apportioned on that basis.
- Ability to pay basis: In this case the apportionment may depend on the factors like total sale/profitability. This may not be a fair case always as some departments may have to take most of the burden.

Secondary Apportionment

With the process of primary apportionment or distribution, the loading of overheads for all the departments i.e. production as well as service departments can be obtained. The next step is to transfer the overheads of non-production

departments to the production departments, as the various cost centres move through the production departments only.

Absorption

Each job while moving through the production department should get its share of overhead. This process of distribution of overheads is called absorption. There can be a number of methods of absorption of overheads, consideration should be given to the type of industry, manufacturing process, nature of industry etc. The various methods of absorption are

- Direct material cost percentage rate
- Direct labour cost percentage rate
- Prime cost percentage rate
- Labour hour rate
- Machine hour rate

Direct Material Cost Percentage Rate

In this method overhead is calculated as a percentage of the material cost. This is used where the material cost is high and of prime importance. Here other costs are negligible or are dependent on the material cost. This is calculated as $(\text{Amount of overhead}/\text{Material cost}) \times 100$ If the production overhead is 3,000 and the material cost is 10,000 then the absorption rate will be

$$(3000/10000) \times 100 = 30\%$$

Now for a product if the material cost is 1000 then the overhead cost is 300. So the total cost would be 1300. The classic example of an industry using this type of absorption are gold jewellers the typical absorption rate varies from 2-5% of the cost of the gold. If the cost of the material fluctuates this method can be used. For this type of absorption the material cost should be stable. If in the same industry material of different cost is used the calculation becomes unjustified, especially when the cost of the material differ too much.

Direct Labour Cost Percentage Rate

In this method cost is absorbed as a percent of the labour cost or the wages. $(\text{Overhead cost}/\text{Labour cost}) \times 100$ If the Labour cost is 5000 and the overhead cost is 1000 then the absorption cost is 20%. If the labour cost of one job is 500 it will have to absorb 20% i.e. 100 as the overhead cost making the total cost to be 200. This method can be used in service industry where the major input is the skilled or unskilled labour. For the proper calculation labour rates need to be constant and the skill and efficiency of the labourer need to be identical.

Prime Cost Percentage Rate

In this method both material cost as well as labour cost is the base for calculating the overhead absorption. It is calculated as $(\text{Overhead Cost}/\text{Prime$

cost) x 100. Prime cost is nothing but the sum of direct material cost and direct labour cost.

Labour Hour Rate

This method is mostly used if the industry is labour-intensive and the labour is mostly unskilled or semiskilled. It is calculated as (overhead cost/ Labour hours required for production) if the labour hour required is 1000 and the overhead to be absorbed is 250 then the rate is .25 per labour hour. If 20 labour hours are required to complete a job then the overhead will be 5.

Machine Hour Rate

If the industry considered is having high degree of automation and mechanization then this method can be used. Here the major chunk of the cost comes from the utilization of the machines. It is calculated as (overhead cost/ number of machine hours) This is very useful if the running cost of the machines including rent are the dominant part of the cost of the product. One of the main reasons for absorbing overheads into the cost of is for inventory valuation purposes. Absorption costing is permissible under GAAP.

Traditional TAC was developed in the age of manufacturing and mostly used to arrive at the full manufacturing cost of producing goods; an alternative method of arriving at full cost known as activity-based costing (ABC) is often thought to be more appropriate for services. Absorption costing is a means of incorporating a fair share of indirect cost or overheads into the cost of a unit of product or service provided.

Absorption Costing

A costing method that includes all manufacturing costs—direct materials, direct labour, and both variable and fixed manufacturing overhead—in unit product costs. According to the ICMA London “Absorption costing is a principle whereby fixed as well as variable costs are allocated to cost unit the term may be applied where production costs only or costs of all function are so allocated”.

Direct Costing

Direct cost is the amount accredited for production of some goods or provision of services. In other words in a production process of a product, cost of labour, material and other expenses related to this production calls direct cost. Direct cost is related directly to the volume of production. It must be noted that the material cost is included in direct cost but cost of machinery is not a part of it. In this context, direct cost can be defined as the process of determining direct cost included in an operation or production.

Applications of Direct Costing

Direct costing can be used very effectively to get valuable information regarding prospective changes in production costs which will come up as a

result of some management action. A few good examples of applications of direct costing include:

- **Equipment is updating:** If management is looking to upgrade old machinery and equipment or purchase of modern machinery, direct costing can give an idea how this machine will affect their direct cost. A new machine may be costly but overall it could reduce direct cost of production by decreasing labour, loss of material and better performance.
- **Price Setting:** Another important use of direct costing could be a determination of lowest possible cost that must be charged to customers or clients in order to remain at break even.
- **Profitability Analysis:** Direct costing can be applied for the determination of profitability of various clients by deducting direct cost of their purchase price. One can find the contributions of various clients towards company's profits and overhead and comparison can be easily made.
- **Budgeting:** Direct costing also help in creating a budgeting system by using it to change budget variable costs to match the volumes of actual sale achieved.

Limitation of Direct Costing

Although direct costing has many applications, still there are some limitations. One is ignorant of indirect costs. Therefore the use of direct costing is not highly advisable for calculating long-term profitability. Ignoring huge indirect costs could lead to inaccurate results of long term costing and pricing decisions.

Absorption Costing versus Direct Costing

The purpose of accounting has been generally described as the process of providing information to owners, creditors, governmental regulatory agencies, and operating management. "In a broad sense accounting has one primary function: facilitating the administration of economic resources. This function has two closely related phases:

- (1) measuring and arraying economic data;
- (2) communicating the results of this process to interested parties."

Of primary concern is the fact that the users of the accounting information are involved in the decision making process.

However, they have different interests and objectives. Accordingly, the same information may require varied processing and summarization to meet the needs of each class of users. Various accounting practices, based on the same accounting concepts and principles, have been developed to satisfy the multiple and changing needs of the users of accounting reports. Direct and absorption costing are two such accounting practices. Controversy continues to exist as to which

of these two costing methods is better for decision making purposes and for reporting to the users of accounting information. The objective of this paper is to dwell upon the historical nature of the controversy and build a case for a method of costing that rests on economic logic and realities of the market place.

References

- Arya, A. K. : *Advanced Financial Accounting*, Aadi Publications, Delhi, 2011.
- Bagby, J. W.: *Cyberlaw Handbook for E-Commerce*, South-Western Educational Publishing, New York, 2003.
- Choi, F.D.S. and Mueller, G. G.: *International Accounting*, New York, Prentice-Hall International Inc, 1992.
- Dalton, John M.: *How The Stock Market Works*, Prentice Hall Press. New York Institute of Finance, 1988.
- Mendez, Ruben P.: *International Public Finance*. New York: Oxford University Press, 1992.
- Patel, R.B. : *Advanced Accounting and Auditing : Theory and Practice*, Shree Niwas Publications, Delhi, 2011.
- Reddy, R. Jayaprakash: *Advanced Cost and Management Accounting*, APH, Delhi, 2004.
- Watts, R.L. and Zimmerman, J.L.: *Positive Accounting Theory*, Englewoods Cliffs, NJ:Prentice Hall, 1986.

Journey of Nuclear Suppliers Group And India's Membership Bid

Dr. Md. Mushfique Alam

*Associate Professor, Political Science, T.N.B. College, Bhagalpur,
T.M. Bhagalpur University, Bhagalpur (Bihar)*

With the testing of nuclear fission device at Los Alamos on 16th July 1945, the Manhattan project accomplished its mission. This also heralded the era of nuclear weapons. United States of America achieved the unprecedented and unparalleled power in the comity of nations. In less than a month's time since test explosion, Japanese cities of Hiroshima and Nagasaki were attacked with nukes on 6th & 9th August respectively. This was the most heinous crime committed against humanity ever in human history. The collective casualties at the two places at the time of attack and subsequently due to radiations were around a quarter million. At the time the US dropped the atom bombs on Hiroshima and Nagasaki, they had just enough material for one uranium and one plutonium bomb which they made and dropped on the enemy.¹ If the Japan had not surrendered, probably the war could have continued for some more time.

The possession of nukes attributed US the unique distinction of sole member of the super elite club capable of inflicting damages to any country beyond imagination. Thus, the reign of threat of US military prowess got instilled in the global psyche. But this uniqueness proved short lived. Erstwhile USSR jumped into the nuclear bandwagon in 1949 and subsequently, Britain, France and China achieved the rare feat in 1952, 1960 and 1964 respectively. Many other countries were fast approaching the goal. At the one hand, these developments robbed America of its unique status of a only nuclear power but also posed a real threat of emerging proliferation risk with the potential to destabilise the international relations and damage US interests. The perception of emerging threat to its security and interest, the US mobilised its concerned agencies to look for arrangements to arrest the proliferation propensities across the world and to give an outlet to disarmament initiatives. Thus, the Nuclear Non-Proliferation Treaty (NPT) was mooted that came into force in 1968. The treaty created a distinction between the five nuclear weapon states and the rest by restricting the legitimate possession of nuclear weapons to those states that tested before 1967. According to article IX of the NPT, "For purpose of this treaty a nuclear weapon state is one which has manufactured and exploded a nuclear weapon or other nuclear explosive devices prior to 1st January 1967."² In return, the nuclear weapon countries promised cooperation on the peaceful uses of atomic energy including nuclear power and pledged to evolve nuclear disarmaments.

France was the most prominent country to stay out of NPT. India was the most important third world country not to join NPT. It argued that the NPT created a club of 'nuclear haves' and a large group of 'nuclear have-nots'. The treaty never explained on what basis such a distinction was valid. At the Eighteen Nation Disarmament Committee (ENDC) held in February 1968, Indian representative, 'Azim Hussain' detailed how India treasured its autonomy and would not give that up under the provisions of any treaty.³

The NPT through its framework constituted the bulkwark of the non-proliferation regime. Its objective was to prevent the spread of nuclear weapon and weapon technology to promote cooperation in the peaceful use of nuclear energy and to further the goal of non-proliferation. Signatories to the NPT were authorised to carry on nuclear trade in materials and equipments for peaceful purposes. This did not include technology within its ambit. Therefore, NPT did not enforce a regime of full-proof non-proliferation mechanism. Further, nuclear weapon states like France and China keeping themselves away from it limited the reach of the treaty. Hence, thoughts were being invested to create a voluntary organisation to preclude proliferation with bigger mandate and more stringent measures. The US establishment was already looking into the feasibilities to plug the gap in the non-proliferation regime. Even before Pokhran-I, an interagency of US National Security Council sub-committee was exploring the problems of safeguard for sensitive nuclear export.⁴

In the year 1971, a committee was formed under the chairmanship of Professor Claude Zangger of Switzerland. The references point to the committee was to draft a list of materials and equipments, if exported triggers the requirement of safeguard. This came to be known as the "Trigger List", It included; (a) source of special fissionable materials, and (b) equipment or materials specially designed or prepared for the processing, use or production of special fissionable materials. Under Article 3 (2) of the NPT, these items should be subjected to IAEA safeguards if supplied by the NPT parties to any non-nuclear weapon states.⁵ The committee published the "Trigger List" in 1974. This contains list of items that would trigger a requirement for safeguards and guidelines governing the export of these items to non-nuclear weapon states not party to NPT. Published in September 1974 as IAEA document INFCIRC/209 have been amended several times, the latest being on 19th June 2014.

The Zangger Committee based on NPT membership could not shoot all the troubles. It did not have broad enough membership or scope to manage that problem. Though it developed the 'Trigger List' of nuclear supplies that required IAEA safeguard but the list did not include enrichment or reprocessing technologies because NPT article III only covered supplies, not technology. Towards this end the committee proposed talks with other suppliers of technology and equipment in the reprocessing and enrichment field on desirable new constraints or guidelines that should be followed. One more problem that the report highlighted that France did not belong to Zangger Committee. This carried the risk that "Suppliers may not adhere to committee's recommendations

if there is a serious concern that France will undercut them by selling 'Trigger List' items without safeguards to non-NPT party. Cajoling France to fall in line was a challenge."

India tested its own fission device on 18th May 1974 and named "Peaceful Nuclear Explosion". This infused additional spark to ongoing non-proliferation discourse. The inadequacies of the existing non-proliferation regimes was brought into global gaze. Canada's safeguard had failed to prevent India from converting spent fuel from CANDU reactor into plutonium.⁶ US Secretary of state Henry Kissinger conceded to Canadian Foreign Minister Mitchell Sharp that US Safeguards had also proven "lousy" failing to prevent India from using US-supplied heavy water for its nuclear activities.⁷

At that juncture, there emerged almost global consensus over the need of a voluntary international apparatus with stronger mandate and enhanced scope to combat the menace of proliferation. France was the most significant actor that had to be brought on to the board. In the immediate aftermath of Pokhran-I, as revealed by US declassified sources, secretary of state authorised a secret diplomatic process to create a high level group that would establish criteria for preventing the diversion of sensitive nuclear technology and material into nuclear weapons production.⁸ Henry Kissinger had long discussion with the British counterpart James Callaghan and realized the need to tackle the problem through nuclear export. Thus, creating a forum for nuclear exporters to develop common policies aimed at precluding nuclear proliferation was the point driven home. After the French Foreign Minister was assured by Kissinger that the new organisation would work on the basis of "consensus", France agreed to join.⁹ Thus, Nuclear Suppliers Group (NSG) was founded in 1974 after India's, "Peaceful Nuclear Explosion".

NSG, also known as 'London Group' or 'London Club' named so because of a series of meetings were held in London. Originally seven members: US, Canada, France, Japan, West Germany, UK and Former USSR, first met in November 1975.

In 1976 eight more countries joined and as of now it consists of 48 members as follows;

- Argentina
- Australia
- Austria
- Belarus
- Belgium
- Brazil
- Bulgaria
- Canada
- China
- Croatia
- Cyprus
- Czech Republic
- Denmark
- Estonia
- Finland
- France
- Germany
- Greece
- Hungary
- Iceland
- Ireland
- Italy
- Japan
- Kazakhstan
- Latvia
- Lithuania
- Luxembourg

- Malta
- New Zealand
- Portugal
- Serbia
- South Africa
- Sweden
- Ukraine
- Mexico
- Norway
- Romania
- Slovakia
- South-Korea
- Switzerland
- UK
- Netherlands
- Poland
- Russia
- Slovenia
- Spain
- Turkey
- US

India and Pakistan are the latest applicants for membership of the organisation.

Guidelines

The outcome of the series of meetings in London from 1975 to 1978, was an agreement on the guidelines for export. After 1978, it did not meet till 1991, because of internal differences over the next step such as the role of full scope safeguard. The guidelines agreed upon in 1978 were published by International Atomic Energy Agency (IAEA) as INFCIR/254. This was essentially the Zangger Trigger List.

The aim of the NSG guidelines is to ensure that nuclear trade for peaceful purposes does not contribute to the proliferation of nuclear weapons or other nuclear explosive device and that international trade and cooperation in the nuclear field is not hindered unjustly in the process. These guidelines facilitates the development of trade in this area by providing the means whereby obligations to facilitate peaceful nuclear cooperation can be implemented in a manner consistent with international nuclear non-proliferation norms. The key principle for safeguard and export control should apply to nuclear transfer for peaceful purposes to any non-nuclear weapon state and, in the case of control on transfer to transfer to any state. In this connection suppliers have defined the so called 'Trigger List'. This list contains guideline for nuclear transfer such as physical protection, safeguards, special control on materials usable for nuclear weapons, control on transfer as well as supporting activities. Annexes of the guidelines govern the export of items that are especially designed or prepared for nuclear (Annex-A) material and equipment as well as technology associated with each of the items on the trigger list. This was a major improvement upon NPT provisions as NPT did not cover 'technology'.¹⁰

The second annex (Annex-B) includes clarification of items on the trigger list as follow:

- (i) nuclear, reactors and equipments;
- (ii) non-nuclear material for reactors;
- (iii) plants and equipments for reprocessing;
- (iv) plants and equipments for fabrication of nuclear fuel elements;
- (v) plants and equipments for separation of isotopes;

- (vi) plants for heavy water production; and
- (vii) plants and equipments for conversion.¹¹

A further annex (Annex-C) describes criteria for level of physical protection.

The original trigger list (INFCIRC/254, Part 1) was bereft of guidelines on transfer nuclear related 'dual-use' equipments, materials, software and related technology. The revelations of the Iraqi weapons programme following the first Gulf War led to tightening of so-called dual-use equipments. At the first meeting since 1978, held at the Hague in March 1991, the twenty six participating governments agreed to the changes which were published by IAEA in 1992 as "Dual-use List", (INFCIRC/254 Part 2).

With the objective of averting the proliferation of nuclear weapons and preventing acts of nuclear terrorism, suppliers have considered procedures in relation to the transfer of certain equipment, material, software and related technology that could make a major contribution to a "nuclear explosive activity", "an unsafeguarded nuclear fuel cycle activity", or acts of nuclear terrorism. In this connection, suppliers have agreed on following principles: common definition and an export control list of equipments, materials software and related technology.

This second set of NSG guideline govern the export of nuclear related 'dual-use' items and technologies, that is items that can make a major contribution to an unsafeguarded nuclear fuel cycle or nuclear explosive activity but which have non-nuclear uses as well, for example in industry. The list includes guidelines for transfer dual-use goods which are listed in the Annex. The annex lists the following categories:

- (i) industrial equipments;
- (ii) material;
- (iii) uranium isotopes separation; equipments and components (other than trigger list items)
- (iv) heavy water production plant related equipment (other than trigger list item)
- (v) test and measurement equipments for the development of nuclear explosive device; and
- (vi) components of nuclear explosive devices.

In 1995 at the NPT Review and Extension Conference (NPTREC), the full scope safeguard policies adopted by the NSG in 1992 were endorsed. The endorsement reflected the conviction of the global community that this nuclear supply policy was a vital element to promote shared nuclear non-proliferation commitment and obligation. The NSG plenary at Goteborg in 2004 decided to adopt a "catch-all" mechanism in the NSG guidelines, to provide a national legal basis to control the export of nuclear related items that are not on the

control list, when such items are or may be intended for use in connection with a nuclear weapons programme. The Oslo plenary in 2005, adopted a decision that suppliers and recipients states should elaborate appropriate measure to invoke fall-back safeguards if the IAEA can no longer undertake its safeguards mandate in a recipients state. An extraordinary plenary was convened at Vienna in year 2008. It adopted a policy statement on civil nuclear cooperation with the IAEA safeguarded Indian Civil Nuclear Programme (INFCIRC/734). The Christchurch NSG plenary in 2010 set up a technical group to conduct a fundamental review of the NSG's Trigger and Dual-use list. The technical working group was called the Dedicated Meeting of Technical Experts (DMTE). The 2011 NSG plenary at Noordwijk agreed to strengthen the NSG Part-1 guideline on the transfer of sensitive enrichment and reprocessing technologies (paragraph 6 and 7). The DMTE came out with 26 technical proposals. The NSG Consultative Group was endorsed by 2012 Seattle Plenary to approve DMTE proposal. This plenary also approved an amendment to NSG Part-1 guideline adding a new paragraph 12 entitled "Support for Access to Nuclear Fuel for Peaceful Uses". The Fundamental Review was completed at the 2013 NSG Plenary at Prague.¹² The IAEA published all 54 agreed amendments in revised IAEA documents INFCIRC/254/Part 1 and INFCIRC/254/Part 2 on 13th November 2013.

NSG and India

As already discussed in the preceding pages that in the post-NPT years, humongous efforts were put in by US establishment to create a more comprehensive regime with stricter and stringent mandate to plug the loopholes in existing non-proliferation regimes. India's "Peaceful Nuclear Explosion" on 18th May 1974, provided with the immediate spark. All kinds of sanctions were imposed on India to scuttle its indigenous nuclear programme. Yet its nuclear establishment and conviction of the political leadership kept on the flame alight. India underwent paradigm shift with the launching of New Economic Policies (NEP) in 1991.¹³ Leaving behind the sluggish growth rate of last four decades, economy got momentum and achieved a sustainable growth rate between 6 to 10 percent. India emerged as a huge market with immense potential to offer business opportunity to global players, particularly the US multi-national corporation.

Though the diplomatic manoeuvring were on the track from pretty earlier times, the 'joint statement' of 18th July 2005 laid out the trajectory of the future course of action. But the civil nuclear deal between two countries before getting actualised, the US Congress had to alter some US laws, after which a 123 Agreement had to be negotiated and approved by the congress to enable bilateral nuclear trade. The United States also had to ensure the deal's unanimous approval from NSG. In July 2007, 123 Agreement was finally settled. Safeguard

Agreement and Additional Protocol with IAEA were finally concluded in July 2008. Now the unanimous NSG approval was the most herculean task. President George Bush (Jr.) agreed to "Pull out all the stops,"¹⁴ calculating that NSG was going to be much more difficult than getting approval for the IAEA safeguard and agreement. Thus, getting NSG waiver for India became US responsibility. US had to fire every ammunition in its diplomatic armory to convince the NSG members to give India the extraordinary waiver. US ambassador David Mulford, who played a crucial role in negotiating the agreement that underpinned the US instance at the NSG said, It was the biggest diplomatic effort I have witnessed in my experience since 1980s.¹⁵ Mild opposition from white knights were overcome by US cajoling tactics. The most stubborn resistance came from China. Chinese opposition was overcome only after president George Bush telephoned his Chinese counterpart Hu Jintao. Thus, immense pressure from US and an intense Indian lobbying campaign, saw through the then 45 nation Nuclear Suppliers Group, granting a 'unique waiver' to India on 6th September 2008 in a specially convened plenary at Vienna. This waiver, finally pulled India out of the "Nuclear Pariah" status and conferred upon it the legitimate rights under the world nuclear regulatory regimes to trade for civilian nuclear fuel and technology. Thus, decades old bar on export of nuclear material and technology to India have been removed. This waiver is not specific to US-India deal nor limited in time. Brajesh Mishra, National Security Advisor to Atal Behari Vajpayee government wrote, "either you change your policies to suit international laws and regimes or you get them changed to suit your policies." In later case, it demonstrates the stature, clout, significance and influence of a country. For India's sake the US not only changed its own laws but also managed NSG to get waiver for India. This is a very overt manifestation of India's growing clout in the comity of nations.

India's Pursuit for NSG Membership

The post deal and waiver corollary for India was to get entry into concerned regimes. President Barak Obama visited India in November 2010. He announced US support for India's participation in the Nuclear Supplier's Group, the Wassenaar Arrangement, the Australia Group and Missile Technology Control Regime (MTCR).¹⁶ Established on 12th July 1996, Wassenaar Arrangement is a multilateral export control regime for conventional arms and dual-use goods and technologies with forty one participating states. After the use of chemical weapons by Iraq in 1984 during Iraq-Iran war, Australia Group was established as an informal group of countries in 1985. Its purposes was to help the member countries to identify those exports which need to be controlled so as not to contribute the spread of chemical and biological weapons. Its forty two members include all OECD countries, European Commission and members of the European Unions. Missile Technology Control regime was established in April

1987 by G7 countries in order to curb the spread of unmanned delivery system for nuclear weapons, specially delivery system that could carry a pay load of 500 kg for distance of 300 km. In its Oslo annual meeting in 1992, its scope was enlarged to include non-proliferation of Unmanned Aerial Vehicle (UAV) for all weapons of mass destruction. Its membership has grown upto 35 nations, India being the latest entrant on 27th June, 2016.

French president Sarkozy during his India visit in December 2010, backed India's membership to NSG. For long UK has supported India's entry in NSG. During Republic Day visit to India, US president Barak Obama reiterated its stand. Russian president Vladimir Putin has also offered unconditional support to India's claim. Before Seoul Plenary of NSG in June 2016, India cajoled support of White Knights too. But China opposed the move tooth and nail and India's membership bid was foiled. Chinese official daily 'Global Times' claimed, nine other countries were against India's entry, taking principled stance that "non-NPT signatory can't become NSG member."¹⁷

The failure at Seoul also branded as NSG fiasco, warranted a serious review of India's diplomatic and foreign policy strategy. It also raised many uncomfortable questions: was not the NSG membership bid maniac and desperate? What advantages and benefits India was likely derive from NSG membership?

PM Modi in his interview with Times Now Tv asserted that foreign policy decisions are taken by the team as a whole. However, the sequence of event that preceded this fiasco tells a different story. Creation of too much hype around NSG bid without doing sufficient diplomatic homework is puzzling. Beijing played its cards very openly and without taking China into confidence, the membership bid was desperate and maniac because it is not a secret that NSG operates on 'consensus' basis.

On the eve of NSG waiver for India in 2008, China's stubborn opposition was overcame when president Bush telephoned his Chinese counterpart. This time also Chinese stand was very clear. It is yet not officially revealed that why India did not seek favour from America to cajole China? Was the situation otherwise, that America did not take that much interest as it took at the time of India's waiver? Was it over confidence on part of Prime Minister Modi to bring China on to the board by the eleventh hour? Whatever, might be the cause, outcome of the Seoul Plenary was a fiasco for India as the "top most executive head put his personal prestige at stake by raising the issue with his foreign counterpart at personal level."¹⁸

Coming to the question of what benefits India was like to derive from NSG membership, we need to analyse the consequences of 2008 waiver. With the granting of waiver in the special Plenary at Geneva, India became entitled to import nuclear fuel and technology for its IAEA safeguarded Civilian reactors.

India was authorized to carry nuclear trade with any NSG country without any time bar. Two years later, in 2010, NSG set up a technical group to conduct the fundamental review of its "Trigger" and "Dual-Use" List. The 2011 plenary at Noordwijk agreed to strengthen the NSG Part 1 guidelines on the transfer of "sensitive enrichment and reprocessing technologies (paragraph 6 and paragraph 7)."¹⁹ The revised guidelines incorporating 54 amendments were issued in June 2013. The IAEA published all 54 agreed amendments INFCIRC/254 Part 1 and INFCIRC/254 Part 2 on 13th November 2013.

As per India's agreement with US, our export laws and regulations either have been or will have to be changed to incorporate these changes. One if these changes, though made a crucial difference to our waiver, which provided that transfer of sensitive export remain subject to paragraph 6 and 7 of the guidelines. In 2011, before the other amendments were adopted, paragraph 6 was revised to prohibit trade in "enrichment and reprocessing", with any country that has not signed the NPT. This means that no NSG member can cooperate in these areas with India. Exactly as the NSG was setup to target India after its 1974 test, this amendment was introduced by the NPT evangelists to target India after 2008 waiver, which they could not thwart.

As the record shows, once the NSG adopts changes, it retain them for over a decade, because its amendments are comprehensive and reaching agreement on alternation are hard. The last change came after almost 20 years. Therefore, even if India does become member now, it can not beaver away at new rules. We might well want to revise paragraph 6 & 7 again to suit our needs, but the rule of consensus, on which the NSG works, means any thing we propose must be accepted by every other member. To expect those who revised paragraph 6 of the guidelines with India in mind, to accept a consensus to change or dilute its provision is a pipedream. So, if the government say it must get into the NSG because it wants to make or change the rules, it is disingenuous. Despite all these, Modi's perusal for the NSG membership was desperate. Why? Answer to this question has to be looked into, perhaps, at the level of domestic political scenario.

Analysing the personality traits of Mrs. Indira Gandhi, prominent political scientist Atul Kohli, wrote "Indira Gandhi was a deeply political politician". It meant, her every policy decision was to be viewed through the prism of their potential impact on her electoral popularity and hold on power. This seems also be true in case of persona traits of Prime Minister Narendra Modi. Even every word he speaks publicly on issue of national or international concern, contain, message for Indian electorates, Ever since, he has come to power, there is a well calibrated effort to belittle the achievements of successive congress government and exalt their own in a magnified way. By getting membership, he surely would have scored a point or two over Prime Minister Manmohan Singh who is credited with successfully negotiating the nuclear deal with United States of America. At the same time he could have sell it to the Indian electorates

as the biggest achievement of his government in the subsequent election in general and parliamentary election 2019, in particular. In the armoury of his rhetorical demagoguery, this could have been another effective ammunition.

References

1. Iyenger, P.K (2009) *Briefing on Nuclear Technology in India*, New Delhi, Rupa. Co., p. 10.
2. Nayadu, Swapnakona in P.R. Chari (eds.), *INDO-US Nuclear Deal: Seeking Synergy in Bilateralism*, 2009, New Delhi, Routledge, p. 158.
3. Khanna, V.N. (2000): *India's Nuclear Doctrine*, New Delhi, Samskriti, p. 41.
4. Burr, William (16th April 2014), *The Making of Nuclear Suppliers Group, 1974-1976*, Wilson Centre. <https://wilsoncenter.org>.
5. www.nti.learn/treaties-and-regimes/zangger-committee-zac/
6. Ramanna, Raja (1991), *Year of Pilgrimage*, New Delhi, Viking, pp. 55-59.
7. Peter, Van Ham (1994), *Managing Nuclear Non-Proliferation Regimes in 1990s: Power Politics and Policies*, New York, IIA, p. 83.
8. <https://www.wilsoncenter.org>.
9. Freedman, L.F. (2003), *The Evolution of Nuclear Strategy*, New York, Palgrave Macmillan, p. 63.
10. <https://www.iaea.org/files/infeire>
11. www.nuclearsuppliersgroup.org/guideli...
12. Pal, Satyabrata, *A Strange Obsession with the NSG*, The Hindu, Kolkata, 24th June 2016, p. 10.
13. Baru, Sanjay, *The Strategic Consequences of India's Economic Performance in Kanti P. Bajpai and Harsh V. Pant (eds.) India's Foreign Policy: A Reader*, (2013) New Delhi, Oxford University Press; pp. 165-169.
14. Cited in P.R. Chari (eds.), *INDO-US Nuclear Deal: Seeking Synergy in Bilateralism*, 2009, New Delhi, Routledge, p. 118.
15. The Hindu, Kolkata, 7th November, 2010, p. 11.
16. m.thehindu.com/news/article/8783383
17. Editorial, *NSG Fiasco*, July 2016, Third Concept, New Delhi, Vol. 30, No. 353, p. 5.
18. Pal, Satyabrata, 'A Strange Obsession with the NSG,' The Hindu, Kolkata, 24th June 2016, p. 10.
19. Ibid.
20. Kohli, Atul (2012), *Poverty Amid Plenty in the New India*, New Delhi, Cambridge University Press, p. 29.

Ideology and Politics in India

Dr. Sudhir Kumar Singh

*Assistant Professor (Sr. Scale), Department of Political Science,
Marwari College, Bhagalpur*

The only factor that explains the mushrooming growth of political parties in India is the difference in ideology. While some of them are pro-liberalisation, some are anti-capitalism. The ideological differences also exist in the social sphere with some political factions swearing by Hindu nationalism and the rest seem quite content with progressive westernisation.

Political parties in India love to talk about ideology. Each political party is supposed to have an ideology. So even if a political party does not have any ideology, it will never say so. If you were to ask probing questions about a party's ideology to a staunch loyalist of the party, you would either be bombarded with a short, nebulous and high-sounding label or be told that the ideology is too complex for anyone to understand so quickly and one would need to spend a few years in the party to really understand the ideology of the party.

The mystification of ideology goes back in Indian history to Gandhi. From around 1920 to 1947, Gandhi ruled over Indian political scene through the ideological direction that he provided to Congress. Gandhian ideology was supposed to be very simple, based as it was on just two simple principles of truth and non-violence. Yet, it was not so simple. Nobody, during Gandhi's time (and even after his death), could claim to have understood Gandhian ideology completely. Followers of Gandhi would claim their degree of understanding of the ideology based on the years they had spent with Gandhi. Ideology of Gandhi consisted of all that he spoke over the years. If there was an internal inconsistency or contradiction in his utterances or actions, it was not for a Gandhian to question it. All that an ordinary mortal could do was to just look with reverence at all that Gandhi did. If Gandhi deviated from what he had said in the past, it was hailed as development of Gandhian thought and was acclaimed as an "experiment with truth". On the other hand, if anyone else moved a step beyond literal words of Gandhi, it was condemned.

The nationalist movement provided, particularly after 1920s, a broad framework of ideologies for political parties in India. Nationalism, socialism, secularism and democracy became the main plank of the Congress during last leg of the freedom struggle which remain so till now.

After independence, a section of political parties including Bharatiya Jan Sangh, while expressing full faith in socialism, secularism and democracy, laid emphases on nationalism based on cultural and civilisational ethos. The communists' belief in secularism, socialism and democracy however, remained based on social revolution leading to the establishment of the rule of proletariat

and peasantry guided by Marxism and Leninism. Thus, during formative years, the ideologies of political parties were based on socialism, secularism, nationalism, Hindutva and Marxism. Of course, there were parties based on religious identity, such as Muslim League and Shiromani Akali Dal (SAD) which visualized religious communities as separate political entities.

The people within the Congress Party held different views and were categorized as rightists, centrists, and leftists. The first group within the Congress Party who opposed the overall policy of the Congress were the Socialists, who left the party in 1948, and formed the Socialist Party. The Socialist Party underwent several splits and reunions. In 1951 Kripalani formed Kisan Mazdoor Praja Party (KMPP) but after 1952 elections, KMPP and Socialist Party merged to form Praja Socialist Party (PSP), so that an anti-Congress non-communist group could be forged. In 1955 Lohia left the PSP and revived the old Socialist Party. Again in 1964 Samyukta Socialist Party (SSP) was formed as a result of the merger of the Socialist Party, with the PSP. Another group in the Congress Party led by C. Rajagopalachari who proclaimed their opposition to the Congress policy of giving a big role to the state in regulating, directing and changing the national economy and raising the public sector to the commanding heights came out of the Congress and founded the Swatantra Party in 1959. The Swatantra Party stood for a liberal ideology. This party, however, soon went into oblivion, though it performed well in the 1967 General Elections and emerged as the second largest party in the Lok Sabha.

There was split in the Congress Party in 1969. The split was known between radicals led by Mrs. Indira Gandhi and the conservative elements led by the old guard of the party called the 'Syndicate'. But in fact, ideology did not play any significant role in the split. The birth of the new Congress Party under Mrs. Gandhi's leadership was attributed more to the changed style of functioning of the Congress rather than to any changes in the party ideology. The later development showed that Indira Gandhi's ideological vehemence and radical slogans were only a means to establish herself as an undisputed leader of the party.

The relation between the Congress and Socialists was always ambiguous. There were differences on co-operating with Congress which were in a way responsible for the splits in the Socialist Party. The ideological opposition to the theory and practice of Communism and formal adoption of the objective of building of socialistic pattern of society by the Congress made the position of Socialists virtually indistinguishable from that of the Congress and drew them closer to the Congress Party. Narendra Dev and Lohia opposed any tie up with Congress. In 1953 talks between JP and Nehru on co-operation failed. In 1962 Ashok Mehta was expelled from the PSP and he joined the Congress as a cabinet minister at the centre.

The most vigorous opposition to the Congress came from the Communists. Soon after independence the Communists waged an armed struggle in some

parts of the country to overthrow the Indian Government. But soon the Communists gave up the path of armed struggle and joined the democratic process of election. The ideological debates on the character of Indian states, path to revolution in India, strategy and tactics of the revolutionary path led to several splits in the Communist Party. However, their participation in elections and success in forming and running governments at the state level firmly placed them in the arena of parliamentary politics. The splintered groups which believed in armed struggle were further split into several groups and later merged into one group named as CPI (Maoist) which is engaged today in guerrilla warfare against the established government.

Interestingly, after the inner debate in the party over the character of the Indian state and revolution, the undivided CPI came to the conclusion that it should support the Congress Party and form a united front with it. The other section which took a hostile attitude formed CPM in 1964. The split in the CPM and formation of the CPI (ML) and other revolutionary groups based on Maoism in 1967 and the splits within splits of these groups show the salient differences over strategy and tactics among the Communists. However, a closer examination of splits among the Communists reveals the interpretation of leadership rivalries, personality clashes, organizational matters and programmatic positions.

After the split in the Janata Party in 1979, its constituent Bharatiya Jan Sangh formed the Bharatiya Janata Party (BJP) in 1980. Besides adopting the main ideological base of the erstwhile Jan Sangh, the BJP adopted Gandhism, socialism and Cultural Nationalism as its ideological plank. The main reason for the BJP's rise in 1990s was its forceful presentation of Indian nationalism and stiff opposition to the Congress programme of Muslim appeasement. It awakened the people against the danger posed by the Congress to Indian culture and the values of Hindutva. Its ability to penetrate into the middle class, to redefine nationalism and articulate the cultural and material aspirations of the people helped the BJP to consolidate itself. Its ability to redefine itself, expand its social base and forge alliances with regional parties helped it significantly in its rise.

In the functioning of political parties, caste, religion, language and region also have acquired ideological overtones. The Muslim League during the pre-partition days claimed that Indian Muslims constitute a separate political community. Islam and Urdu provided the two distinguishing marks. After partition the Muslim League was revived in 1948, although there were splits in it later. The AIMIM in Andhra Pradesh is the continuation of the Majlis of the Nizam period. It is mainly based in Hyderabad city, it almost exclusively appeals to the Muslims of the state.

Similarly SAD of Punjab has its roots in religion and its membership is restricted to Sikhs only. The leaders of the SAD believe that the Sikhs constitute a separate political community (Panth). The Akal Takht is the highest seat of religious and political activity. The SAD launched a campaign for a Punjabi Suba (separate state for Sikh) that excluded the Hindi-speaking areas and included areas where Sikhs are in a majority. In 1970s and 1980s it carried out a

militant struggle for Khalistan. There are Christian parties too in the country, as in Kerala.

Language and region also acquired the nature of ideology. As language and region grow together, regionalism takes the form of linguistic nationalism. When they are further combined with religion, culture, or ethnic identity, they become a powerful force. It is witnessed in the South, West and East, in the emergence of several regional parties and separatist groups. The consolidation of TDP, rise of Shiv Sena, AGP, BJD (and its earlier version Utkal Congress), National Conference and PDP in J&K, JMM, Trinamool Congress etc. shows how region has the potential to assume the form of an ideology.

With the emerging trend of the formation of regional parties, centre-state relations are getting strained. Leaders of the regional parties demand more powers for the state in a federal frame work. This trend has also given rise to the decline of National Parties in those states as it has resulted in consolidation of regional parties. Regional identity and interests remained a potential issue for political mobilization. Often this has taken the form of centre-state problems.

However, the ambitions of the leaders of regional parties generally do not remain confined to the region only and they also tend to catch up with national aspirations and therefore, they compete with the national parties for power. They therefore, adopt belligerent postures particularly against the Congress, the established national party. The BJP, the more nationalistic of the national parties, quickly grasped this emerging trend and forged alliance with these parties. Later the Congress too followed suit but it is yet to come to terms with reality of co-existing with the regional parties.

References

- Agnihotri, Ram Awatar, Twelfth Parliamentary General Elections, Delhi: Commonwealth Publisher, 1999.
- Akhtar, Majeed, Coalition Politics and Power Sharing, New Delhi: Manak Publisher, 2001.
- Arora, S.C., President's Rule in Indian State: A Study of Punjab, New Delhi: Mittal Publication, 1990.
- Ball, A.R., Modern Politics and Government, London: Macmillian Publisher, 1971.
- Banerjee, Kishalay, Regional Political Parties in India, New Delhi: B.R. Publishing, 1984.
- Dahl, Robert A., A Preface to Democratic Theory, Chicago: University of Chicago, 1975.
- Fadia, B.L., Indian Government and Politics, Agra: Sathiya Bhawan Publications, 2007.
- Garg, Vivek and Dev, Nirendra, CM to PM: Narendra Modi, New Delhi: Manas Publications, 2014.
- Johri, J.C., Indian National Congress since Independence, New Delhi: Lotus Press, 2006.
- Merriam, Charles, Systematic Politics, Chicago: University of Chicago, 1945.

History of Life Insurance in India

Rajeev Gupta

Research Scholar, Mewar University, Chittorgarh

Introduction

The history of life insurance dates back to 3000 BC. Learned scholars are of the view that the expression 'Yogakshemam' found in the Rig Veda refers to a sort of social welfare insurance; the ancient Aryans seem to have developed such a concept. Edwin W Kopf in his treatise – 'Origin, Development and Practices of Livestock Insurance' credits India with being the mother of insurance practices, and opines that the development started in India and after that spread to ancient Babylon. He refers to the Bridari system of India as the most ancient institution formed for the mutual help of the members during the contingencies of daily life.

Insurance began as a way of reducing the risk of traders, as early as 5000 BC in China and 4500 BC in Babylon. Life insurance dates only to ancient Rome; "burial clubs" covered the cost of members' funeral expenses and helped survivors monetarily. Modern life insurance started in late 17th century England, originally as insurance for traders: merchants, ship owners and underwriters met to discuss deals at Lloyd's Coffee House, predecessor to the famous Lloyd's of London.

The growth of life insurance as a tool of family security, synchronized with the growth of affluent families in England during the industrial revolution. As a result of the economic boom brought in by the industrial revolution, the merchants and manufacturers of England became a wealthy, important and influenced section of the community. They enjoyed a standard of living which their families would have found difficult to maintain at the event of their death, unless special provisions were made. To such people, life assurance offered a special attraction as a provider and protector of family financial security.

The first life insurance company, The Society for the Assurance of Widows and Orphans, was founded in London in 1699. After the repeal of the Royal Charter of 1720 providing monopoly to the London Assurance and the Royal Exchange Assurance in 1824 in the UK, the growth of life insurance companies was phenomenal. Competing companies started launching many new and attractive life insurance plans.

Relief of the Poor and Distressed Presbyterian Ministers and for the Poor and Distressed Widows and children of Presbyterian Ministers'; it was started in 1775 by Benjamin Franklin. This is the oldest life insurance company in the

world today, and is now known as the Convent Life Insurance Company. Benjamin Franklin played a significant role in forming many life insurance companies in the US. The oldest surviving mutual insurance company is the equitable Life Assurance Society of the UK that was founded in 1756. Equitable was the first life insurance company to issue the insurance cover for varying terms subject to certain age restrictions of the assured.

Insurance as an organizational effort came to India in its present form in 1818, and the first insurance company in India was the Oriental Life Insurance Company, which was started in Calcutta by the Europeans mainly for the benefit of the European Community in India. In the initial years, the Company did not consider Indian lives worthy of underwriting. However, due to the persistent effort of Babu Muttyal Seal, the newly formed Oriental Insurance Company consented to consider lives for underwriting and insurance cover.

This was followed by the incorporation of many more companies like the Bombay Life Assurance in 1823 and Madras Equitable in 1823. These two and the few other companies were taken over by Albert Life Assurance Company in 1860; Albert Life Assurance itself went into liquidation in 1869.

The first fully Indian –owned insurance company, Bombay Mutual Life Assurance Society, was started on December 3, 1870 in Mumbai. This landmark in the history of Indian insurance was commemorated in 1970 as the centenary of India's life insurance. A mutual insurance company is one that has no equity capital by the stockholders. The capital is owned by the policyholders. An insurance company, which is owned and controlled by stockholders or investors, is called a Capital Stock Insurance Company. Another important Indian insurance venture, the Oriental Government Security Life Assurance Company was established on May 5, 1874 with Sir Pherozshah Mehta as its founder.

The first two decades of the twentieth century saw lot of growth in insurance business. From 44 companies with total business-in-force as Rs.22.44 crore, it rose to 176 companies with total business-in-force as Rs.298 crore in 1938. During the mushrooming of insurance companies many financially unsound concerns were also floated which failed miserably. The Insurance Act 1938 was the first legislation governing not only life insurance but also non-life insurance to provide strict state control over insurance business. The demand for nationalization of life insurance industry was made repeatedly in the past but it gathered momentum in 1944 when a bill to amend the Life Insurance Act 1938 was introduced in the Legislative Assembly. However, it was much later on the 19th of January, 1956, that life insurance in India was nationalized. About 154 Indian insurance companies, 16 non-Indian companies and 75 provident were operating in India at the time of nationalization. Nationalization was accomplished in two stages; initially the management of the companies was

taken over by means of an Ordinance, and later, the ownership too by means of a comprehensive bill. The Parliament of India passed the Life Insurance Corporation Act on the 19th of June 1956, and the Life Insurance Corporation of India was created on 1st September, 1956, with the objective of spreading life insurance much more widely and in particular to the rural areas with a view to reach all insurable persons in the country, providing them adequate financial cover at a reasonable cost.

In creating awareness about the life insurance in the mind of the Indian public, both in the urban and rural areas, the Postal Department, through its life insurance wing, played a significant role before the formation of the LIC. It should be noted that neither in 1956 or thereafter were the Postal Life Insurance (PLI) and the insurance wings of some of the state governments brought into the fold of LIC.

LIC had a monopoly status from inception in 1956 to the end of December 1999. In 1993 the Government of Republic of India appointed RN Malhotra Committee to lay down a road map for privatisation of the life insurance sector.

While the committee submitted its report in 1994, it took another six years before the enabling legislation was passed in the year 1999, legislation amending the Insurance Act of 1938 and legislating the Insurance Regulatory and Development Authority Act of 1999. The same year the newly appointed insurance regulator - Insurance Regulatory and Development Authority (IRDA) started issuing licenses to private life insurers. The Foreign Direct Investment (FDI) share in joint ventures with Indian partners is capped at 26%. i.e the Indian partner(s) shall possess maximum stake at 74%. At present, 22 private life insurance companies operate in India as on 1st April 2009.

Postal Life Insurance – Exempted Insurer

The Postal Life Insurance popularly known as the PLI was established in 1884 initially to provide life insurance security to the postal employees. Subsequently the benefits were extended to the telegraph employees and gradually to all government employees. In 1956, when the government nationalized the life insurance business in India, PLI was not taken over and was permitted to transact business with postal employees and government servants. At present the PLI covers central and state government employees, various public undertakings; government aided institutions and nationalized banks.

The story of insurance is probably as old as the story of mankind. The same instinct that prompts modern businessmen today to secure themselves against loss and disaster existed in primitive men also. They too sought to avert the evil consequences of fire and flood and loss of life and were willing to make

some sort of sacrifice in order to achieve security. Though the concept of insurance is largely a development of the recent past, particularly after the industrial era – past few centuries – yet its beginnings date back almost 6000 years.

Life Insurance in its modern form came to India from England in the year 1818. Oriental Life Insurance Company started by Europeans in Calcutta was the first life insurance company on Indian Soil. All the insurance companies established during that period were brought up with the purpose of looking after the needs of European community and Indian natives were not being insured by these companies. However, later with the efforts of eminent people like Babu Muttylal Seal, the foreign life insurance companies started insuring Indian lives. But Indian lives were being treated as sub-standard lives and heavy extra premiums were being charged on them.

Bombay Mutual Life Assurance Society heralded the birth of first Indian life insurance company in the year 1870, and covered Indian lives at normal rates. Starting as Indian enterprise with highly patriotic motives, insurance companies came into existence to carry the message of insurance and social security through insurance to various sectors of society. Bharat Insurance Company (1896) was also one of such companies inspired by nationalism. The Swadeshi movement of 1905-1907 gave rise to more insurance companies. The United India in Madras, National Indian and National Insurance in Calcutta and the Co-operative Assurance at Lahore were established in 1906. In 1907, Hindustan Co-operative Insurance Company took its birth in one of the rooms of the Jorasanko, house of the great poet Rabindranath Tagore, in Calcutta. The Indian Mercantile, General Assurance and Swadeshi Life (later Bombay Life) were some of the companies established during the same period. Prior to 1912 India had no legislation to regulate insurance business. In the year 1912, the Life Insurance Companies Act, and the Provident Fund Act were passed. The Life Insurance Companies Act, 1912 made it necessary that the premium rate tables and periodical valuations of companies should be certified by an actuary. But the Act discriminated between foreign and Indian companies on many accounts, putting the Indian companies at a disadvantage.

The first two decades of the twentieth century saw lot of growth in insurance business. From 44 companies with total business-in-force as Rs.22.44 crore, it rose to 176 companies with total business-in-force as Rs.298 crore in 1938. During the mushrooming of insurance companies many financially unsound concerns were also floated which failed miserably. The Insurance Act 1938 was the first legislation governing not only life insurance but also non-life insurance to provide strict state control over insurance business. The demand for nationalization of life insurance industry was made repeatedly in the past but it gathered momentum in 1944 when a bill to amend the Life Insurance Act

1938 was introduced in the Legislative Assembly. However, it was much later on the 19th of January, 1956, that life insurance in India was nationalized. About 154 Indian insurance companies, 16 non-Indian companies and 75 provident were operating in India at the time of nationalization. Nationalization was accomplished in two stages; initially the management of the companies was taken over by means of an Ordinance, and later, the ownership too by means of a comprehensive bill.

The Parliament of India passed the Life Insurance Corporation Act on the 19th of June 1956, and the Life Insurance Corporation of India was created on 1st September, 1956, with the objective of spreading life insurance much more widely and in particular to the rural areas with a view to reach all insurable persons in the country, providing them adequate financial cover at a reasonable cost. LIC had 5 zonal offices, 33 divisional offices and 212 branch offices, apart from its corporate office in the year 1956. Since life insurance contracts are long term contracts and during the currency of the policy it requires a variety of services need was felt in the later years to expand the operations and place a branch office at each district headquarter. Re-organization of LIC took place and large numbers of new branch offices were opened. As a result of re-organisation servicing functions were transferred to the branches, and branches were made accounting units. It worked wonders with the performance of the corporation. It may be seen that from about 200.00 crores of New Business in 1957 the corporation crossed 1000.00 crores only in the year 1969-70, and it took another 10 years for LIC to cross 2000.00 crore mark of new business. But with re-organisation happening in the early eighties, by 1985-86 LIC had already crossed 7000.00 crore Sum Assured on new policies.

Today LIC functions with 2048 fully computerized branch offices, 113 divisional offices, 8 zonal offices, 1381 satellite offices and the Corporate office. LIC's Wide Area Network covers 113 divisional offices and connects all the branches through a Metro Area Network. LIC has tied up with some Banks and Service providers to offer on-line premium collection facility in selected cities. LIC's ECS and ATM premium payment facility is an addition to customer convenience. Apart from on-line Kiosks and IVRS, Info Centres have been commissioned at Mumbai, Ahmedabad, Bangalore, Chennai, Hyderabad, Kolkata, New Delhi, Pune and many other cities. With a vision of providing easy access to its policyholders, LIC has launched its SATELLITE SAMPARK offices. The satellite offices are smaller, leaner and closer to the customer. The digitalized records of the satellite offices will facilitate anywhere servicing and many other conveniences in the future. LIC continues to be the dominant life insurer even in the liberalized scenario of Indian insurance and is moving fast on a new growth trajectory surpassing its own past records. LIC has issued over one crore policies during the current year. It has crossed the milestone of

issuing 1,01,32,955 new policies by 15th Oct, 2005, posting a healthy growth rate of 16.67% over the corresponding period of the previous year. From then to now, LIC has crossed many milestones and has set unprecedented performance records in various aspects of life insurance business. The same motives which inspired our forefathers to bring insurance into existence in this country inspire us at LIC to take this message of protection to light the lamps of security in as many homes as possible and to help the people in providing security to their families.

Life Insurance Companies in India History and Future

History Of Life Insurance Companies Till Life Insurance Corporation Established In India, insurance has a deep-rooted history. It finds mention in the writings of Manu (Manusmriti), Yagnavalkya (Dharmashastra) and Kautilya (Arthashastra). The writings talk in terms of pooling of resources that could be re-distributed in times of calamities such as fire, floods, epidemics and famine. This was probably a pre-cursor to modern day insurance. Ancient Indian history has preserved the earliest traces of insurance in the form of marine trade loans and carriers' contracts. Insurance in India has evolved over time heavily drawing from other countries, England in particular.

1818 saw the advent of life insurance business in India with the establishment of the Oriental Life Insurance Company in Calcutta. This Company however failed in 1834. In 1829, the Madras Equitable had begun transacting life insurance business in the Madras Presidency. 1870 saw the enactment of the British Insurance Act and in the last three decades of the nineteenth century, the Bombay Mutual (1871), Oriental (1874) and Empire of India (1897) were started in the Bombay Presidency. This era, however, was dominated by foreign insurance offices which did good business in India, namely Albert Life Assurance, Royal Insurance, Liverpool and London Globe Insurance and the Indian offices were up for hard competition from the foreign companies. In 1914, the Government of India started publishing returns of Insurance Companies in India. The Indian Life Assurance Companies Act, 1912 was the first statutory measure to regulate life business. In 1928, the Indian Insurance Companies Act was enacted to enable the Government to collect statistical information about both life and non-life business transacted in India by Indian and foreign insurers including provident insurance societies. In 1938, with a view to protecting the interest of the Insurance public, the earlier legislation was consolidated and amended by the Insurance Act, 1938 with comprehensive provisions for effective control over the activities of insurers.

The Insurance Amendment Act of 1950 abolished Principal Agencies. However, there were a large number of insurance companies and the level of competition was high. There were also allegations of unfair trade practices.

The Government of India, therefore, decided to nationalize insurance business. Life Insurance Corporation Of India Birth An Ordinance was issued on 19th January, 1956 nationalizing the Life Insurance sector and Life Insurance Corporation came into existence in the same year. The LIC absorbed 154 Indian, 16 non-Indian insurers as also 75 provident societies—245 Indian and foreign insurers in all. The LIC had monopoly till the late 90s when the Insurance sector was reopened to the private sector.

The history of general insurance dates back to the Industrial Revolution in the west and the consequent growth of sea-faring trade and commerce in the 17th century. It came to India as a legacy of British occupation.

In 1968, the Insurance Act was amended to regulate investments and set minimum solvency margins. The Tariff Advisory Committee was also set up then. IRDA And Opening Of Life Insurance Business In India This millennium has seen insurance come a full circle in a journey extending to nearly 200 years. The process of re-opening of the sector had begun in the early 1990s and the last decade and more has seen it been opened up substantially. In 1993, the Government set up a committee under the chairmanship of RN Malhotra, former Governor of RBI, to propose recommendations for reforms in the insurance sector. The objective was to complement the reforms initiated in the financial sector. The committee submitted its report in 1994 wherein, among other things, it recommended that the private sector be permitted to enter the insurance industry. They stated that foreign companies be allowed to enter by floating Indian companies, preferably a joint venture with Indian partners. Following the recommendations of the Malhotra Committee report, in 1999, the Insurance Regulatory and Development Authority (IRDA) was constituted as an autonomous body to regulate and develop the insurance industry. The IRDA was incorporated as a statutory body in April, 2000. The key objectives of the IRDA include promotion of competition so as to enhance customer satisfaction through increased consumer choice and lower premiums, while ensuring the financial security of the insurance market.

The IRDA opened up the market in August 2000 with the invitation for application for registrations. Foreign companies were allowed ownership of up to 26%. The Authority has the power to frame regulations under Section 114A of the Insurance Act, 1938 and has from 2000 onwards framed various regulations ranging from registration of companies for carrying on insurance business to protection of policyholders' interests. Today 23 life insurance companies operating in the country, including LIC a Public sector Company and 22 other Private Sector Life Insurance Companies competing with LIC for Life Insurance Business from the Customers in India.

The insurance sector is a colossal one and is growing at a speedy rate of 15-20%. Together with banking services, insurance services add about 7% to the

country's Gross Domestic Product(GDP). A well-developed and evolved insurance sector is a boon for economic development as it provides long- term funds for infrastructure development at the same time strengthening the risk taking ability of the country.

Role of IRDA IRDA's primary function is to protect consumer interests. This means ensuring proper disclosure, keeping prices affordable but also insisting on mandatory products, and most importantly making sure that the consumers get paid by insurers. Further, ensuring the solvency of insurers. Growth of insurance business entails better education and production to customers, creating better incentives for agents and intermediaries. It has evolved guidelines on the entry and functions of such intermediaries. Licensing of such agents and brokers are required to check their indulgence in activities such as twisting, fraudulent practices, rebating and misappropriation of funds.

Market Structure: The market structure for insurance markets shall be tested as to see whether it be monopoly (state or regulated) or should there be unlimited private entry or should there only be a few regulated players. Keeping in view the recommendations of insurance reforms committee that a limited number of high capital private companies be licensed, and no firm be allowed to operate both in life and non-life insurance,

Role of Information Technology

The Business of selling life insurance requires assessing the profile of the customer and assigning the right policy. This process is facilitated by a database and is completely driven by information technology. If it uses this network of database to offer their products, it would have utilized this vastly underutilized capacity. Creating Insurance awareness: It is the need of hour to create insurance awareness among the general public. It will require a whole lot of efforts on the supply and distribution side. Innovative Products Insurance companies should offer innovative products to tap huge amount of resources for the developmental activities.

In developed economies, insurance products are sold. Focus of insurance industries is changing towards providing a mix of both protection/risk cover and long term investment opportunities. Insurance Sector in India- Future Scenario: In India, only 10% of the market share has been tapped by LIC and GIC and the balance 90% of the market still remains untapped. This vast potential can be tapped only by a large number of insurance. To serve the population of more than 100 crore Indians, Indian Insurance market offers tremendous opportunities to private insurers. With the increase in the life expectancy of individuals and disintegration of joint-family system, each individual now has arranged cover for himself and for his family. Therefore, coverage of insurers has to grow very fast. Grievances Of Customers. The Insurance Industry occupies

a very important place amongst financial services all over the world. Reforms in the Insurance Sector were initiated with the passage of the IRDA Bill in December 1999. The IRDA has a task of framing regulations amongst others grievances handling mechanism of customers of Life Insurance Companies. At Present along with Life Insurance Corporation of India, being a public sector Life Insurance Company, there are twenty two other private limited Life Insurance Companies operating in the Insurance Sector.

Customer satisfaction is a measure of how products and services meet or surpass customer expectation. The dissatisfaction amongst the customers in the areas of services of the Insurance companies leads to grievances of customers. Utility of the Study of Research In the world of Globalization economic model adopted by our India, the Insurance Sector is opening up not only to the Private Insurance providers along with the Public Sector Undertaking like Life Insurance Corporation Of India (LIC), also there is increasing participation by foreign investors which shall led to setting up of Insurance Companies by Foreign Institutions having higher capital base and expertise.

In view of the above, the Insurance Companies in India will have to administer the system of operations in such a way that the consumer satisfaction shall be kept at utmost importance leading to not only the retaining the customer base but expanding the larger customers which shall lead to keep themselves positioned to the foreign insurance providers competition. Our Research Study shall also keep the consumers aware about the various needs vis-à-vis various Insurance products and services, the awareness about the consumers rights as assured by the Regulatory Body of Insurance (I.R.D.A) set up under the Insurance Act. This proposed Research study shall ultimately lead to high level of consumer satisfaction and better services by the Insurance providers.

Limitations of the Study

The scope of the proposed Research study is limited to the Mumbai region only and the sample size out of the total population limited to 2300 only, hence the results of the studies may differ from other regions in Maharashtra as well as in other parts of India. The results of the proposed study are based on the information given by the support administrative staff of the Insurance Providers and the Life Insurance Policyholders, being Individuals, Such information is based on an element of bias while providing such information which is the basis of our study, However on and average, the results of the study shall be representative of the mass population.

Life insurance is a means of independence in old age or, at least, assistance to that end. In nations where the proportion of old people to the total population is increasing, this could well be an important factor. In the developed nations,

the responsibility of supporting the aged has shifted from family to the State. As the proportion of people dependent upon the State grows, the greater will be the obligation on successive governments to provide higher old-age pension benefits with a consequent increasing burden on younger generations. India has a relatively younger population; however the problems are the same as in advanced nations. Old-age issues are increasing and increasing nuclear families or the empty nest stage means more and more old people are going to be under financial insecurities. Living too long in such a situation may be as risky as dying too early.

The Risk of Dying too early, i.e in the accumulation phase of wealth, can be covered by adequate term insurance cover, for high sum assureds, after an effective need analysis of the client. The sum assured should be limited to the human life value of the person insured, and not higher. An adequate risk cover equivalent to the HLV of the person insured, would be the foundation component of the Insurance and investment portfolio of the client.

Advantages of Life insurance

Insurance should not be confused with only being a profitable and prudent channel of investment. It is much more than that. It is a financial security a responsible person bestows on his or her family in the event of him/her waiting away from the family scene before fulfilling the various responsibilities and obligations. Life insurance addresses two important contingencies in the life of an individual.

The financial strain on their family due to unforeseen and premature death.
? The financial strain on an individual as a consequence of retiring from an active working life and living longer.

Unlike in other forms of savings where only the accumulations are made available, in life insurance the entire sum assured is made available to the dependants in the event of death irrespective of the number of premiums paid; the only condition being that the policy should have been kept in the force by regular payment of premium.

A life insurance policy is accepted as collateral security by banks, financial institutions and housing finance companies.

A Mortgage Redemption Policy ensures the financial security of both, the borrower and the housing finance company. The plan covers the outstanding portion of the loan, and the borrower's liability is automatically extinguished on death without any hassle to the dependants.

The proceeds of the policy can be protected against the creditors through a valid assignment. Through the purchase of immediate annuity by paying the purchase price in one lump sum, one can buy financial security for one's old

age. And the same can be planned from a young age by contributing to a suitable Deferred Annuity Plan.

ax benefits are also available on the premiums paid and also on the claims proceeds according to the tax laws in force from time to time. Life insurance is called an immediate estate because of the death of the assured, the life insurance proceeds are available to the legal heirs inspite of the fact that no estate was in existence up to the time of the death of the assured. The estate itself comes into being as a result of the death of the insured, which otherwise would not have existed to be passed on to the dependants.

Insurance – The Backbone of an Economy

- A well-developed insurance sector contributes to the economic growth by encouraging risk taking by entrepreneurs.
- Insurance is also perceived as a tool of wealth management.
- A well managed insurance industry offers risk-specific and risk-adequate insurance covers at a cost-effective price to the society.
- Many developing economies tap the insurance premium mobilized by the insurance companies as a source of national development and infrastructure financing.
- In an economy, insurance provides for the optimal utilization of capital without any necessity to lock in huge amounts of capital to provide for contingencies arising out of risk events.
- Life insurance encourages thrift and savings among individuals, thereby contributing to the economic growth by encouraging capital formation.
- The introduction of the Deposit Insurance Scheme for bank deposits and Export credit Guarantees in India is aimed at accelerating the economic growth.
- As economic growth and the growth of the insurance sector are mutually complementary, insurance companies develop innovative and user-friendly products to keep pace with and to meet the changing socio-economic demands.

The three major roles of insurance are

- The significant role insurance plays in rebuilding the economy
- The role of insurance as a provider and protector, and
- Insurance as a package of solutions for increasing personal and corporate liabilities. Insurance is a derisking medium, both for individual and institutions. Primary insurers derisk themselves by transferring the risk they had underwritten from different sources to the secondary insurers or reinsurers.

Insurance— Socio-Economic Relevance

Risk managers receive insurance as an economic model for reducing and eliminating risk by a process of bringing together an adequate number of homogenous groups so that the loss arising out of the risk become predictable for the group. In practice, each member of the group substitutes a small part of the certain cost, called premium, to meet any uncertain financial loss that would exist but for the contract of insurance.

The primary function of insurance, be it life, non life or reinsurance, is providing protection by assessing the risk and sharing the same with many by the process of risk sharing and, thus, minimizing individual risk and its impact. These basic functions are followed by subsidiary responsibilities like efforts for preventing losses and aiding the economic development through the investment of funds.

The role of insurance goes beyond its primary purpose of spreading the risk and, thereby, minimizing the loss. The huge fund collected by way of premium from millions of policyholders, and the amount retained by them as solvency funds to meet unforeseen contingencies are invariably invested according to the mandatory or prudential norms approved by the regulators. Insurance plays a significant role in shaping the economy of a nation. The contribution of the insurance sector to the growth of the economy is gauged by the rate of penetration.

The rate of penetration means the quantum of premium mobilized by the insurance sector vis-à-vis the growth of the Gross Domestic Product (GDP). The ratio indicates the growth of the insurance market.

The reported average insurance penetration of around 1.5% of GDP of India until the 1990s was considered to be one of the lowest in the world. According to Sigma compilations, as at the end of 2003, the UK, had the highest penetration in India as at 2001 worked out to be 2.71%, and subsequently rose to an impressive 3.26% in 2002. The average global insurance penetration during the period 1995-2001 was around 7.05%; and as against this, the average penetration in India was around 2.2%. This indicates that India's insurance potential lies dormant and remains to be harnessed.

Conclusion

Insurance has a close links with the economic growth. As the process of economic growth leads to the creation of wealth, both for public bodies like the government and the corporates, and individuals, the need for insurance increases. Insurance is an answer to risk. Insurance neither reduces the uncertainty nor does it alter the probability of the event. But it reduces the possible financial loss connected with the occurrences of the event.

References

- Anoop K. Kaushal and S.K. Mohanty, Insurance Law Manual, Universal Law Publishing Co. Pvt. Ltd., 2002.
- Balasubramaniam T.S. and S.P. Gupta, Insurance Business Environment, IC-12, Insurance Institute of India, Mumbai, 2000.
- Barry D. Smith et al., Property and Liability Insurance Principles, Insurance Institute of America, 1994. ?Bodie Zvi, Kane Alex and Marcus Alam T., "Investments", Second Edition, Tata Mc Graw Hill, New Delhi, 2002.
- Briyo et al., Insurance from Underwriting to Derivatives, John Wiley & Sons Ltd., 2001.
- Christopher Lovelock, Services Marketing—People, Technology, Strategy, Prentice-Hall, 2001. ?Claims Management, Volume I & II, ICFAI Press, 2002.
- Krishna Chaitanya V.(2005), Liberalization Privatization and Globalization of Insurance Sector in India, GITAM Journal of Management, Vol.3, No.2, July-December 2005; p. 104.
- The Reserve Bank of India, (2008); RBI Bulletin, September 2008, p. S 827 and p. S 890.
- Sundaram K.P.M. (2007); Indian Economics, Sultan Chand, 2006, p.315
- Mehta. P.L. (1992); Managerial Economics: Analysis, Problems and Cases; Sultan Chand & Sons, NewDelhi, p. 501. ? Insurance Laws and Practice, Vidhi Publications, 2002, p. 2.1.
- Annual Reports of IRDA from 2001-02 to 2010-11.

Industrialization and Development: Discontentment among Tribals in Orissa

Dr. Prem Lata

*Senior Lecturer & Head, Department of Sociology,
Dau Dayal Mahila College, Firozabad, U.P.*

The need for tribal development in Orissa hardly needs any justification. There are sixty-two tribes inhabiting Orissa. The major tribes of the state are Kondh, Koya, Gadabas, Oraon, Juang, and Santal. As per 2001 census the tribal population of the State of Orissa stands at 8.15 million which constitute 22.13% of the total population of the state. Their decadal growth has declined since 1981 up to 2001 as 22.43%, 22.21%, and 22.13% in 1981, 1991 and 2001 census respectively. The number of tribes that reside in Orissa is the highest anywhere in India. All the districts of Orissa have a tribal population in it. While some regions have huge presence of tribals, some have only a handful of tribals. Koraput, Rayagada, Kalahandi, Naurangpur and Malkangiri are few districts where more than half of the population is tribal. The tribal population in the State is overwhelmingly rural, with 94.5% residing in villages.

Orissa that figures predominantly in the list of underdeveloped states in India has been a victim of some ill thought-out development strategy. Despite being a rich state in terms of its mines and minerals and natural resources, Orissa has not made any real progress as far as the development of the state and its people are concerned. Ironically all the mines and mineral rich districts of Orissa are the districts where the majority of residents are tribals. Given the living standard of the tribal communities in those areas of southern and western Orissa one cannot take this massive industrialization and mining activity as the scale to judge the rise in human development indicators among the people. Exploitation, zero healthcare and educational facilities, malnutrition, inhuman torture, rising unemployment, inordinate delay in disposal of land cases, unwillingness to undertake land reforms are the cruel realities which speak to us about the realities of tribal development in Orissa.

Statistical figures indicate that in last ten years of industrial madness in the state about 20 lakh people have been directly affected by development projects in varying degrees out of which about 5 lakh have been physically displaced losing their home and hearth from their original habitat. Statistical figures further indicate that while dam/irrigation projects alone have displaced nearly 3.5 lakh people which is roughly 70% of the total displaced persons, industrial projects

have displaced about 60,000 people which is 12% of the total displaced whereas the mining projects, urban development projects, thermal projects and wild life sanctuaries have displaced 3.37%, 12.86%, 2.60% and 0.5% of the total displaced people in the State of Orissa. Although the above referred figures account for the already completed projects, there are a host of other projects which are either ongoing or are in the pipeline in which about 2 lakh more people are expected to be displaced. Mining in Orissa has created “an estimated 50,000 environmental refugees,” according to news reports. On the whole, 1.4 million people, mostly adivasis have been buy prozac online displaced by developmental projects in Orissa alone.

Let me start with my home district Sundargarh which has a dominant tribal population of 918903 people with a tribal literacy ratio of 37.34 percent where as the total literacy ratio of the district is 52.97. In recent years, hundreds of sponge iron factories have mushroomed all over in the Naxal-hit district of Sundargarh. Existing environmental laws have been flaunted openly by the industrialists who have no concern for pollution and environment degradation. They have been dumping their waste all over for which most agricultural land of the area has lost their fertility. Local people have witnessed and complained about the polluted air and water being emitted from the plant of Rexon Strips in Kumarkela village of Gurundia Block. The polluting units are emitting ammonia fumes, strong enough to corrode tin sheets and burn paddy and green vegetables, which have become a major threat to life. Thousands of people who live in the villages of Ramabahar, Jampali, Jhagarpur, Bargaon, Vedvyas, Balanda, Kuarmunda, Kalunga, Rajgangpur, Birkeria, Koira, Bonai, Tensa, Birmitrapur, Bijabahal, etc. in Sundargarh are suffering from various skin diseases, tuberculosis and other allergies. Similar is the case with people in the Barbil and Joda region of Keonjhar district. Adding agonies to the people the health care system of district is in total dismay. In past few years the state government has spent crores of money, but all in pen and paper, to claim better health care for the people. While in past years the government has taken the land of the poor tribals to establish new industries it has failed miserably to ensure basic health care for the people. As per the government data Sundargarh has 12 doctors per lakh and 33 beds per lakh people. On the other hand the government flaunts Sundargarh as the model district of industrial development.

Rayagada is another tribal district in South Orissa which bears the same signature of extreme poverty, rampant corruption and a chaotic but violent social atmosphere. It has a dominant tribal population and a total of 72.03 percent people in the district are living below poverty line. To outside world the area is known for its backwardness and starvation death. In between 1990-2000, more than 100 crore has been spent, but most of the money went to the pockets of leaders, bureaucrats, contractors, traders etc. State government as part of its development activity started planting eucalyptus and this only helped the J. K. Paper Mill to get cheap raw material.

Concrete road was constructed from Tikiri to Kashipur via Maikanch only to welcome the Utkal Alumina Industries Ltd. To sum up, all these so-called development projects no way helped the majority tribal of the region. As such the area is blessed with a huge content of bauxite; 1957.3 lakh ton in Baphli Mali, 810 lakh ton in Sasubahu Mali, 860 lakh ton in Siji Mali near Kasipur. The Utkal Alumina International Limited (a joint enterprise of Aditya Birla Group, and ALCAN, a Canadian company) is constructing an Rs.4500 crore aluminium plant site at Doraguda near Kasipur. The project threatens displacement of over 20,000 people mostly tribal, and would impact rights to life and livelihood across 82 villages. It has been 12 years from now that the local communities in Rayagada are protesting bauxite mining, condemning the breach of constitutional provisions barring sale or lease of tribal lands without consent. People dissent the devastation of their ecosystems, histories and futures, the destruction of forests, agricultural lands, mountains, perennial water-streams, the water retention capacity of mountains, integral to life and livelihood. So far the government has not been able to come out with an answer to people's apprehension, instead it is using police methods to suppress peoples voice.

Same is case with another tribal district i.e. Koraput, which has a poverty ratio of 78.65 per cent and the literacy rate is miserable at 36.20 per cent. With a tribal population of 5, 85,830 this district bears the definition of tribal sufferings. Government's insensitivities towards basic problems of poverty stricken rural tribal are the main cause for the metaphoric naxal growth in Koraput. It is a sad reality in Koraput that the government declared programs never really reach to the people for whom it is really made. It was in March 2000 that the state government made a declaration that the tribal people will have the right to collect minor forest produces. Problem with the so-called development strategy of the government can be ascertained from the fact that the same declaration has not been implemented till date. Government strategy on the development has been mostly limited to lip service only, without really understanding the problem typical to the lifestyle of majority tribal people of Koraput. There is no market for minor forest produces in Koraput as well as tribals don't even have the access to financial institutions to get loans for investments. It is surprising as well as shocking that how the government has never thought of developing self-help groups for the forest depending communities in Koraput. Koraput has no dearth of mineral deposits, but Government's failure to take a proper approach to utilize these resources in favour of local people has really worsened the situation.

I can go on explaining, its the same every where with the tribals in Orissa. It is the cruel reality of the ill thought out development strategy in Orissa that in all of the resettlement operations, the majority of tribals have ended with lower incomes; less land than before; less work opportunities, inferior housing; less access to the resources of the commons such as fuel-wood and fodder; and worse nutrition and physical and mental health. It is the need of the hour that

the tribals in Orissa must be included in the process of development.

Development can't be divorced from the population; massive industrialization on tribal land does not ensure tribal development. On the other hand the faulty development formula in Orissa have made tribals cialis cheap the victims of the on going development process. With the changing time and with new models of development there is an urgent need to look in to the tribal problems from a development oriented perspective. When I speak of inclusive development I mean improvement in the quality of tribal life, reduction of incidents of poverty, raising the levels of productivity, removal of illiteracy, elimination of exploitation, supportive infrastructure in tribal areas etc.

These words may sound big but are in reality are common sense of any development agenda. With the changing situations one of the long-term needs for tribal development is improvement in their quality of life. Certain basic services like drinking water, health, housing, nutrition, rural roads etc. need to be provided to them. Keeping in view of mad industrialization and mining the 'Periphery Development Programme' of the industrial units must include this in their agenda.

Similarly poverty is the main curse in the cause of tribal development and man made poverty is the worst. Tribals in Orissa today needs to be freed from the clutches of man made poverty. Of late, tribals have been fast losing the areas traditionally under their possession and also the rights to exploit these areas. As more and more tribal lands are being used for the purpose of industrialization there is an urgent need of proper implementation of the Relief and Rehabilitation. Reduction of the incidence of poverty of tribals through raising the levels of productivity and off-season employment is also an important factor for tribal development. Removal of illiteracy holds the key to all the programmes of tribal development. The socio-economic development of Scheduled Tribes depends on educational advancement. Education is more than a mere asset for some tribal communities; investment in education is, in a way, crucial for their existence. Government's industrial policy must also include this also, multinationals and industrial houses do have a responsibility of developing the people and development is just mirage unless people are educated. Because education only can guarantee employment. It's typical with the tribals in Orissa that they see a host of aliens prosper in their areas and this is a cruel reality which we find it difficult to digest. Government must realize this soon before it becomes too late and Orissa becomes another War zone.

Development through Industrialization

In times of corporate totalitarianism such as ours, when the media – with visibly noble exceptions – is merely the obedient tail of the capitalist canine, the impression that is sought to be created is that in “the world's largest democracy” there is an unchallenged consensus that India needs economic development, that rapid economic growth is the most reliable way to achieve it

(through the infamous “trickle-down” effect), that this in turn is best achieved through break-neck industrialization and that anyone who stands in the way of such “development” needs to have her patriotic credentials (read: “head”) examined. This may include, for instance, those who (following the latest warnings of the IPCC) are pointing to dangerously threatened, rapidly melting Himalayan glaciers.

Nothing is in fact farther from the truth, especially when one keeps reminding oneself that the free press is city-based and is anything but free. People have by now heard of Nandigram and Singur – perhaps because they happen to be in Communist-ruled West Bengal, the hypocrisy of the government all too transparent there.

However, as a National Convention held in New Delhi recently revealed there are fires of protest growing in number, frequency and intensity against the large-scale acquisition of land for purposes of industrial/infrastructural/real-estate “development” all across India. The question is whether city-based media outlets are reporting the facts adequately and accurately and whether urban elites have the integrity and courage to face the monstrous injustices that their leaders are busy inflicting on the countryside and its hapless populations.

References

- Aiyappan A. : *Report on the Socio - economic Conditions of the Aboriginal Tribes of the Province of Madras*, Madras : Government Press, 1948.
- Bandopadhyay, Arun: *Tribes, Forest and Social Formation in Indian History*, Manohar, Delhi, 2004.
- Barnes, Bob.: *Social Survey Division in the 1990s*, Population Trends, 1991.
- Bhasin M.K.: *Genetics of Castes and Tribes of India*, Kamla-Raj Enterprises, Delhi, 2001.
- Gupta L.P.: *Administration for Educational Development of Tribes : A Study of Female Students in Darjeeling*, Classical, Delhi, 2004.
- Haikerwal Benoy Sarkar: *Economic and Social Aspects of Crime in India*, London : George Allen and Unwin, 1934.
- Idaho Centennial Commission: *Idaho Indians: Tribal Histories*. Boise: Idaho Centennial Commission, 1990.
- Kakade, S. R.: *Scheduled Castes and National Integration: A Study of Marathwada*, New Delhi, Radiant Pub., 1990.
- Thurston Edgar : *Castes and Tribes of Southern India*, New Delhi : Cosmo Publications, 1975.
- Verma V. : *Kanauras of Kinnaur : A Schedule Tribe in Himachal Pradesh*, B R Publishing Corporation, Delhi, 2002.

Bhakti Andolan and Women

Dr Bindu

Associate Professor, Department of History, H.K.M. Sitapur

The position of women underwent many changes as a result of the social changes in the country. The honored position which the women enjoyed before the advent of Muslims in India gradually deteriorated during Turkish rule. While the older tradition of high respect for them continued in a section of society. There were some people who looked down upon them and denounced them as the root cause of the ruin of men. The deteriorating condition of women perhaps provoked them to help the women folk in improving their lot. During the Sultanate period a number of saints and reformers flourished. Their impact upon socio-religious life of the women is also seen.

Kabir :- The life and teaching of Kabir throws enough light on various rituals and dogmas which encircled the life of women during his age. He tried to break the very chains which kept the women in confinement. Kabir advocated milder treatment for women because they were associated with number of superstitions and were deprived of many privileges and rights.

Kabir considered motherhood as most important phase in women's life. As a mother, she appears to be most pious and humble creature. It is her love for children which holds her in great esteem. To Kabir, a person deprived of his mother, was a very unfortunate one and subject to pity.

Regarding the relationship between god and devotees Kabir says that it is based on love, simplicity, sacrifice and devotion. The relation between god and devotee is like husband and wife. To Kabir a devotee is an ideal wife who sacrifices everything for her husband. God for whom her love knows no bounds. Keeping this relationship in mind Kabir speaks highly of the ideal wife, who is a symbol of love, purity and sacrifice.

Kabir liberal attitude did not end here, he threw open the doors of spiritual life to women also. Women disciples were accepted by Kabir. Married women and widow both were accepted as his disciples. He gave them equal status with that of men.

In his writings many controversial statements regarding women can easily be found. At some places with the help of similes and metaphors, he says that women is inseparable to man. She is united to man as soul is to god. On the other hand, Kabir condemns women which is evident from a couplet, when he treats women as 'Maya' or illusion' sinful and treacherous. Through apparently men and women are on equal footing, yet deeper analysis shows that woman is incessantly given a subordinate place to man as is clear when he says that male child should be there to look after deserted mother. Again on the path of spiritual attainments she has been painted as a picture of purity. Her love is like the

divine light and virtues of a devoted wife also indicated that Kabir had very high opinion about them.

Kabir advocated that women should be treated mildly. In his own personal life he never treated his wife harshly but for once when she refused to provide alms to hermit. Kabir did not believe in caste, color and creed distinctions. He laid the task of preserving the integrity of females and their protection on the shoulders of Kshatriyas from oppressions. To bring socio-cultural unity he advocated inter caste marriage. He married his own daughter Kamali to a Brahmin youth.

Analysis of Kabir's writings in the end leads us to conclude that society during his time was suffering from many social evils like Sati, pardah, adultery, caste and class distinctions. It appears that he reacted to variety of events from time to time and expressed his thoughts accordingly.

Guru Nanak:- In Guru Nanak's time the women were deprived of most of religious and social rights and it appears that perhaps they ceased to be an independent identity. Guru Nanak analyzed that corruption, in social life was due to the fact that women were not given an independent place in society. They were not playing important role in the social life and thus their condition appear to be rather pitiable. We regarded women equal to men. He was of opinion that it is women upon whom growth and welfare of society rests. Women should not be treated inferior to men. Women give birth to great men and are responsible for prosperity of society. Guru Nanak worked for protecting rights and privileges of women which they were deprived of. Guru Nanak threw open doors of eternal bliss and attainment of spiritual knowledge to women. There is an example of a female servant who happened to touch Guru Nanak's feet and thereby she attained salvation through his blessings.

Married life was generally considered as a hurdle in pursuit of spiritual life. Guru Nanak advocated against this belief. His conception of marriage and married life can be understood by throwing a glance on his own life. To divert his attention from spiritual pursuits his parents tried to marry him and thus his marriage with Sulakhani was solemnized. But Guru Nanak's pursuit for spiritual life was not hampered as he was aware of his duties towards his wife but at the same time he did not forget his prime goal and strived for it continuously for it. His behavior remained unchanged, his father proposed to bring about his second marriage. This shocked Guru Nanak who outrightly refused the proposal. He regarded that the bonds of marriage was pious and the result of the will of god. He gave spiritual touch to the institutions of marriage and emphasized that married life was not an impediment for those aspiring to lead a life of spiritual pursuit.

Guru Nanak held his mother, Triptaji in great regards and consulted her often on issues of importance. His elder sister, Nanaki realized the spiritual power of her brother and tried to kiss his feet but he refrained her from doing so as she was elder to him. Guru Nanak had respect for women and gave them

their due as husband, son and brother Guru Nanak also said that relationship between god and a devotee is that of a husband wife. As love, purity and devotion unite the wife with her husband so they are required to unite a person with god. Women attended various religious gatherings and were also accepted as his disciples. Princes Rani Gaurjan is an important example who was accepted as his disciples.

Thus Guru Nanak tried to put into practice what he preached. He was generous towards women and never lost an opportunity to help them. Once a poor peasant women full devotion offered milk to Guru Nanak and his disciples, but Nanak insisted that she should first provide her children with milk. The women sadly informed that she had no issues through she longed to be a mother. Next day she and her husband, Dada were instructed by Guru Nanak to follow a pious life in a adoration with god and they would soon be blessed with a child. On another occasion a financially hard pressed father of a grown up daughter requested Guru Nanak to help him in the marriage of his daughter. The Guru presided him with all necessities required for the occasion

There was no place for lust and adultery in Guru Nanak scheme of women's emancipation. For him the basis of society is love, purity and co-operation. Once Guru Nanak came across a women who attempted to cure him for carnal pleasures. All her attempts failed. The Guru politely said go my daughter, go lovely princess live in remembrance of god who is love, beauty and truth. Thus Guru Nanak has no passion for lust and adultery. He considered it as unpardonable crime. He asked his disciples to lead a pure life.

Thus Guru Nanak infused a new vigor in women by providing them spiritual and social rights. He placed women on equal platform with men.

Vallabhacharya:- Vallabhacharya is another spiritual saint whose life and religious thoughts influenced the status of women in general. He had great regards for women and worked incessantly for their moral and spiritual uplift. In his opinion women are more apt for Bhakti path than men. They can also attain salvation. So he had many women disciples. One of the stray incidents of his life can well illustrate his ideas about women. There was a poor Brahmin widow who had two sons and was unable to make both ends meet. She expressed her desire to know the real path to salvation. He listened to her patiently and provided her with a small idol and a cottage to live in and preached her the mode of life she should follow. This transformed her and after some time she became a well-known disciple of Vallabhacharya .

Together with spiritual guidance he taught the women general behavior and principles for their moral enhancement. He advocated purity in sex life. But this does not mean that he discouraged people to lead family life. He opined that spiritual pursuits and family obligations can be carried out side by side.

Duties towards family are in no way impediments in spiritual attainments. But later with the permission of his mother for whom he had great regards, he renounced and took up the path of spiritual life.

Guru Amar Das:- Guru Amar Das lived in an age when child marriage, purdah , female infanticide, sati and many other dogmas were undermining and ruining the status of women. They were looked down in society. Guru Amar Das appeared as a gospel to educate the ignorant masses. He liberated women from the clutches of outdated customs and rituals. It is said that a woman was responsible for his prominence and initiation into the religious order. She was Bibi Amro. Guru Amar Das owed his glory and success to her. She was an accomplished lady with spiritual bent of mind. Bibi Amro often recited hymns and indirectly propagated the message of Guru Angad. Guru Amar Das was moved to the very core by these melodies and meaningful hymns. Guru Amar Das after meeting with Guru Angad changed completely. Now he resolved to lead his life in service of mankind especially for women. He fell heavily upon those customs, traditions and rituals which were a blot upon women's privileges. He started a crusade against those vices and undertook the task of liberating women from its clutches. First of all he attacked the very roots of sati system and brought forth a new lease of life to those for whom no other alternative was life than to embrace the flames of their husband's pyre. Guru Amar Das analyzed that the forces behind this custom were intense love for husband and the miserable life of widowhood. He thus attacked these two pillars which were providing strength to sati system provisions for widow remarriage, we made which shook the belief of women in sati system.

Guru Amar Das was against the domination of priests and elaborate rituals that married the very sanctity of marriage. He simplified the entire ceremony which could now be solemnized by tying up the upper garments of the bride and the bridegroom who would walk around Guru Granth Saheb, four times while the hymns were recited. The ceremony was called 'Lawan'. To eliminate the presence of priest , Guru Amar das asserted that hymns could be recited by any person. The purdah system too was vehemently denounced by Guru Amar Das. On an occasion Raja of Haripur along with his wives happened to visit the Guru. The Queens observed purdah, to which the Guru objected and asked them to put their veils off. One of them did not agree to remove the purdah. This annoyed Guru Amar Das. The king abandoned his wife who failed to obey the Guru.

For the regeneration of society he started " Piri system" which was entrusted with the task of educating women in religious and social norms. This whole organization was handled by women of intellect and accomplishments. Bibi Bhani, Bibi Dabi and Bibi Pal are the ones who contributed a great deal to this system. Female infanticide was sternly opposed by Guru Amar Das. Like Guru Nanak he too established husband and wife relationship as god and devotee. To him women are fountains of love, tenderness and sublime nature. They should share these emotions with Guru, God and their husbands. By doing so women would understand the true meaning of their life.

Chaitanya:- While working for the regeneration of society Kabir. Guru Nanak, Guru Amar Das gave equal status to women along with men, Chaitanya

considered them to be inferior in intelligence and cause of ill fame. Although Guru Nanak and Kabir reproached women but that is only in a particular content and not in general terms. The censure meant for them is only when they are associated with lust and riches; otherwise they have given them a place of reverence. Chaitanya on the other hand, thought it to be a sin to talk, think or even dream of women.

He considered them to be hindrance on the path of spiritual life. Those who have resolved to lead spiritual life, according to Chaitanya should keep away from women. He criticizes those who take pride in establishing and maintaining relationship with both women and god. He wanted people to keep away from such personalities. Women he said are responsible for pollution of thoughts, so much so, that even the sight of a wooden statue of a woman can distract the mind and be responsible for immorality.

Moreover Chaitanya brought forth the idea that the very foundation of society rests on morality. One must stick to the moral codes and regard another's wife as his own mother. He also advised people to avoid being alone even with their own mother, sister or daughter. An instance of one of his disciple, Meena Nath, who was saved from indulging into debauchery can be easily quoted here.

Chaitanya had great regards for mother figure. A mother's main concern, he maintains is the welfare of her child for whom she can sacrifice everything and anything. These feelings and thoughts can be seen reflecting in his biographical accounts particularly in matters of his marriage and later settling down in Puri.

He speaks highly about the women of Nadia, his native place to him the females of that region are chaste and virtuous. Though Chaitanya himself abdicated his family life at the age of twenty four years, yet he did not find any wrong in leading the life of a householder. He advised his disciples to lead a married life and carry on their duties towards their family along with their life of spiritual pursuit.

The renunciation of Chaitanya at such an early age was a blow not only to his mother and wife but to the common masses in general also. Women in particular could not digest the idea behind his abandonment of family life so early. Though Chaitanya nourished the nation of keeping away from women yet a number of women along with men attended his discourse.

Although the works of the saint poets like Guru Nanak and Kabir are basically in religious outlook, yet they do reflect the ideas, ways of life and conflicts of time. Whether they came across an incident or happening, their thoughts were provoked and were expressed in the shape of advice or just an exclamation. Contradiction in their statements can't be denied but the general philosophy of life and attitude towards women gives us a glimpse of their status in sultanate period.

In the attempt to improve the pitiable condition of women that prevailed that time all the saints except Chaitanya tried to give equal status to women

along with men. The social evils like purdah, sati, female infanticide, widowhood and other rituals were attacked and women were asked to come out and work for their social and spiritual uplift. Chaitanya was only saint in that period who does not seem to have done much for social regeneration of women. In a nuts hell we can conclude that saints of Bhakti movement tried in their own way tried to regenerate the society in general and women folk in particular.

Bibliography :-

1. Bhakti Kalin Kavya Me Nari – Dr. Sharma
2. Kabir and his followers – F.E.Keay
3. Society and Culture – Rashid
4. Medieval Indian Culture –Dr. A.L.Srivastava
5. Guru Nanak to Guru Govind Singh –A.C.Banerji
6. History of Sikh Gurus – Surjit Singh
7. Guru Amar Das –Fanja Singh
8. Chaitanya and his age –Sen
9. Sri VallabhaCharya - Bhai Mani Lal Parekh

Socio-economic Changes Among the Pasi, A Geographical Study of Saran District

Ajit Kumar

*Research Scholar, Department of Geography,
Jai Prakash University, Chapra*

The present study attempts to analyse the socio-economic changes took place or likely to take place in future among the segment of Pasi community of the Saran District in the State of Bihar.

The people of Hindu religion is facing a great complex division and they are divided into four Varnas and a number of caste known as 'Jati' in Hindi literature. The people of Pasi community Build a separate 'Jati' or caste and belong to the broader community of scheduled caste. The scheduled caste people as a whole belong to Shudra Varna comprising castes like Pasi, itself Dusadh, Chamar, Dhobi, Musahar, Mehtar, Dom, Dhanger etc. In the hierarchy of caste system, they are at the bottom of the above four Varna, the Pasi community is at upper the level among the all scheduled castes community in Indian social order. As a result scheduled caste community as a whole are socially depress and economically vulnerable. But the socio-economic condition of Pasi is not stronger in comparison to Chamar, Dusadh, Musahar, Dom, Mehtar. The Pasi earned their livelihood by hard physical labour and menial labour also. They are Serve on a very low income.

The division of Varnas and caste has no any Clue in pre-Vedic period. But after the pre-Vedic period, the Varna of caste was based on occupation. Later on, the division caste is by the birth of the people of the Hindu society. The people of the lower strata became untouchables. They were known by different name in different period, such as Chandala, Das, Dhasu, Mlecha, Nicha, Patita etc. The people of upper segment of the society were called 'sawarna' or Hindu castes. This system is going on for thousands of years and till today. The political and economic powers are Commanded by the caste Hindu and upper caste and the position of the scheduled caste in the Hindu dominated society are socially out castes and have no any right.

There is a social revolution in the first decade of the present century, a great social scientist and social reformer Bharat Ratna Baba Saheb Bhim Rao Ambedkar, who himself belonged to the lowest strata of the society; enlightened the shudras and fought for the betterment of this segment of society. The British Government responded positively and defined the lower strata of the people

as 'Depressed class' the father of the world Gandhi called them 'harijan' (son of God), and for the first time Simon Commission, coined the word 'Scheduled Caste' for them.

The area of the study is most fertile tract Ghaghara-Gandak doab. It is an quite significant area, basically and alluvial plain with a few depression (Chour) and Marshes. The Saran Distric consists of 20 C.D. Blocks covering an area of 2641 Sq. Km. It is drained by a number of large and small rivers. The climate is transitional between those of the drier Utter Pradesh to West and wet. West of Bengal Delta to the east. nearly 95% of the workers in the study area engaged in agricultural activity either as cultivators or as agricultural labourers. More than 80% of the total area is under net sown area.

The area of the study is inhabited by different castes of the scheduled caste community and among them Dusadh, Chamar, Dhobi, Pasi, Dom, Mehtar, Halakhor, Musahar, Lalbegi are important. They constitute 15.6% of the total population of the district according to 2001 census. The scheduled caste population reside in both area as well as rural and urban. The highest percent of scheduled caste population found in rural area and in urban area their percentage is very low in comparison to upper segment of the society. The most of the scheduled caste population has engaged themselves in physical and menial labourers, surviving mainly on hard labour and a few of them have migrated from rural area to urban and engaged in while colour job after getting a high educational qualification.

The Pasi constitute 4.22% of the total population of scheduled castes in the Saran district. About 30% of the Pasi of the study area is living in urban area and the rest of the percentage 78.8% of reside in rural area, Basically, their confinement to agricultural activities as agricultural labourers for their livelihood compels them to settle in rural areas. They are artisan class and are guard of the Landlord which is in vogue in rural area only. The sex ratio of the Pasi population is higher than other community. It is 952 female per thousand males in the Saran district.

The population of lower age group in Pasi community is higher than the upper age group. The working population is higher 3.4% of female than male population 0.2% respectively. The workforce of this segment is male and female.

The literacy among the Pasi is a few high. Only 22.9% of the total Pasi is literate. Among them 35.7% of male and 8.4% female is literate of the total population of this segment. Where as urban Pasi is legging near about state literate rate and it total literacy rate is 43.5%. The high literacy is found in male 58.3% and 25.7% in female section of the Pasi society.

This segment of the society in Saran district mostly reside outer most part of the residential area. Some of this segment of the society do not have his own land for homestead. The wall materials they use are brick with mud or straw. The roof material is mostly thatch. In the urban area of the Saran district some R.C-C. houses are found, which have been built be them of their own land.

The settlement of Pasi community is compact in eastern part of the study area, semi compact in the central part and dispersed in Diara area of the study. The settlement pattern is directly given a trace of their livelihood.

The social life of the Pasi is slight better than other scheduled caste population. They live on the out skirts of the village. The practice of ancient age mentioned in the religious scriptures are still in vogue so far the Pasi caste is concerned. There are so many factors which have degraded the social life of the Pasi community. It is pertinent to mention here that some of factors are as the historical factors, social factors, cultural factors, economic factors, political factors, religious factors. At the present period of time, the political and economic factors are the main responsible for the degraded social life of the Pasi.

The Pasi population find themselves in isolation. An interaction with other segment of the society is a few. The Pasi community has not been mixed up with other scheduled castes. They feel that they are heirarchally upper than Chamar, Dom, Dhobi and Musahars.

The people of the Pasi community living in the study area are not cordial in their behaviour in comparison to the Pasi of Magadh region. This community of the society is sub-divided into different branches and feeling of superiority and inferiority exists there. The Pasi were previously bounded by endogamy but these days exogamy prevails among the segment. Divorce remarriage and widow marriage are so common in this caste. The social customs of Pasi are similar as the other Hindu segment. They are religiously followed the faith of Hindu; and they also observe Hindu's festival. But they worship some others deities like the other lower segment of the Hindus. They sacrifices pigs, goats, hen and birds are just a common phenomenon among the Pasi community. They are suffering from superstition and ignorance. They thought that breakout of epidemic as the result of the anger of the goddess Durga or Rah Baba. They observe Sawani Puja and Bahari Puja as other Scheduled Castes observe.

The child marriage is in practice among the all scheduled castes. The marriage ceremony is based on the Hindu model and is same as that of other lower castes in the study area. The Brahmin does not come to the houses of Pasi in any ceremony but Pasi take some of the advise of Brahmins in respect of important religious occasion.

Our Indian society is passing through the phase of social change. A number of constitutional safeguards and measures have been adopted to change the socio-economic condition the challenged segment of the society. In of our Independence India, there was a urgent need to formulate a welfare measures to process it for betterment of a vast number of people of India. These people of the society was neglected and vulnerable in their each and every sphere of life such a good provisions have been made to reduce the unbridgeable socio-economic gap between downtrodden and upper segment. But inspite of our best constitutional safeguards and measures and its implementation has taken more and more period of the time passed away, but condition of those segment

of the society have not been achieved its desired objectives. Atrocities is common social features among this segment. During the field work, some of the respondents of urban and rural region have expressed their grief on the constitutional safeguards and mode of this measures.

More than 87.76% of the total population of scheduled castes are main workers in rural areas and only 6.68% are the main workers in urban area of this district, going through the data of 2001 census, it shows the clear picture of working force in different section of work in rural as well as urban area of the study. It is clear through the data that the high potential man power found in the rural area, where the percentage of non-worker is 91.42%. It is just attraction for agrarian society and the concept of man power generation is feel to revive the potential of Bihar in general and study area in particular.

More than 92.38% of the Pasi population are main workers and more than 91.42% of its population are non-workers. More than 87.76% of the main workers of this community is agricultural labourers, according census 2001. The members of Pasi category have engaged themselves in white colour job in different offices of central and states government and other offices. This community of the society was previously a night guide, but this work is now became rare in the society. Analysis of the field work it shows that nearly 75% of the Pasi are agricultural labourers and 13% are other labourers and 15% are Government and private servants.

The field work shows that 27% of Pasi population have their own land for homestead and rest 73% have built their houses on others land, (provided by landlords/or Zamindars) or on Gaur Mazarua land. Some of the Pasi have temped pigs but now most of them have temped cows, buffalos, and other domestic animals. They are primarily non vegetarian and use meat of goat, birds, pigs and field mice. During field investigation it is found that 25% of this community of the society take normal balanced diet as rice, pulses, bread, milk, eggs, and vegetables and 29% have taken less normal diet pulse and vegetables and rest 46% of this population live on coarse grain and under balanced diet. The people of the Pasi community is the worst victim of the bad habit. They mostly consume country liquor, toddy, Biri, Pan mashala, Gutkha and Ganza and they spent their huge amount of earning for this bad habit.

The condition of sources of drinking water is very satisfactory due clean water programme, a positive sign for this community development programme. Nearly 72% of people of the Pasi population use the safe water source and 20% have used drinking water source with hand pump and tape water both and rest 18% use wells and other source of drinking water.

Most of this community of the society have changed their traditional occupation as 'Night Watch' Guard of Landlords, and Palanquin bearers, the field study shows that 75% of the Pasi have engaged themselves in agriculture, local business or employment. Remaining 25% could not change it at any stage of the employment.

Planning Process

1. Short Term Planning
2. Long Term Planning

The short term planning will be very fruitful to change the socio-economic condition of the Pasi from destitute. It includes provisions for food, drinking water, Ventilation, Salinitation, mid-day meal for school attaining children, providing profitable animal for economic empowerment, facility of low cost bankin system through administrative machineries. Site and location selection of public distribution system, it must be located in the Busti of these segment of the society to easily met their food scarcity problems, and prohibition of consumption of liquor and toxic substance.

The long term planning will the their socio-economic condition. It includes implementation of land reforms Acts, provisions of proper elementary education, primary health care etc. The improvement of all aspects of the life of the Pasi will beneficial for the society to deactivate them unlawful work and rural naxalism. In this way, it will finally save the society from ruin.

Conclusion

This segment of the society suffer and face a complex problems in each and every step of their life; as it is revealed from the examination of facts of last page. They lead a life of scarcity and misery. They are socially degraded and economically backward. Basically, they have no permanent source of income. They are physical labourers and low grade occupational worker. They subsist their life any how on low income. so They are socially, economically, politically and culturally backward, depressed and virtually out castes.

There is a lack of medical facility in Pasi village in particular and rural area of general. Most of the scheduled caste population take up help of quacks due to poverty and other social causes. Most of the Pasi villages are not connected with mettled road it is a great hindrance for development. The embankment area of Suryug and Gandak is more prone area.

The most of the population of Pasi are ill-literate. Illiteracy is rampant among them. Ignorance towards education is clearly reflected on them. Only 22.9% which includes school going children at primary level. Female literacy among this community is only 9%. The rate of human developmental parameter shows that this segment is under developed.

Nearly 46% of the total population of Pasi is main worker; mostly engaged in agriculture as agricultural labourers and a few of them are engaged themselves in traditional business. The women folk participation in economic activities is negligible. The mostly engaged themselves in agriculture, as agricultural labourers, received low pay. That is why they have no any source of income for their family. The overdependence on agriculture is evident from the fact that most than 95% of the Pasi workers are engaged in agriculture.

The populous villages or Tolas of the Pasi or other Scheduled castes face the lack of educational institution. There are no any school is situated in the villages of Pasi. This reflects low educational status of this segment. In the western part of study area have good facility of educational institution than eastern part.

Inspite of all the strong constitutional safeguards and welfare measures of the Government with a long span of time of Independence, the people of Pasi or whole scheduled castes population are remained neglected and this segment is also vulnerable. A number of steps need to be taken in order to ameliorate the condition of the Pasi population with a strong will of execution of order for betterment of scheduled caste of general and Pasi in particular for betterment of this section, there are two types of planning for betterment of this section, there are two types of planning is to be required; i.e. short term planning and long term planning. This segment of the society need assistance for their upliftment. Economic backwardness is result old age deprivation, defective land tenure leading. to landless, and bonded labourers and lack of job opportunities other than traditional work or low grade occupation. Social and economic degradation are the main causes of illiteracy, lack of political consciousness and cultural backwardness. Thus the economic emancipation will also lead to social upliftment and political strength.

On basis of above mentioned objectives and to make the Pasi free and independent and they may be capable to face these problem and also to get rid of bonded labourers, slavery, atrocities, exploitation, humiliation etc.

The following steps are suggested :-

1. Guarantee to provide one day diet for old aged Pasi should be done.
2. Rigght to education must be implemented for eradication of illiteracy.
3. The public distribution system be strengthened particularly in rural area and essential commodities should be supplied of cheaper rate regularly to Pasi community of general and all the scheduled caste in particular.
4. The provision of mid day meal for the school going children of Pasi should be completed with a Transparent manner.
5. At least one Middle School should be established in scheduled caste village with a dedicated scholar of School Management Committee should be nominated through Government Officials.
6. At least a Primary Health Centre should be opened nearby the scheduled caste village for saving them from the dangerous diseases.
7. Investment planning :- It is better to involve the scheduled caste segment, particularly Pasi in investment plan at house-hold level, village level, and made a provision for training of credit, Production and physical infrastructural development.
8. Human Resource Development :- Human resource development is the prime need of the present day to inveolves this segment of the society to upgrade the people's skill for their better levelyment.

9. Awareness to policy and programme :- An awareness may be created among the people of scheduled caste community about the programmes and policy of the present day for their development.
10. Empowerment SC women :- It involves the scheduled castes women segment through financial aids, and educational awareness for their development.

The above mentioned steps require some financial assistance from Central or State Government. But the fund can be generated by enforcing progressive system of direct taxation in which the people of higher income pays taxes at the higher rate. It is therefore, obvious that fund is not a bigger problem. What is not required is a strong political will of both the State Government as well as the Union Government.

References

1. Agrawal A.N. 1988 Indian Economy Problem of development and planning 14th edition wiley Eastern Limited New Delhi.
2. Sociological Bulletin Vol.XVIII No.1 March 1969
3. Ambedkar B.R. 1965, Bihar, A Physical Economic and Regional Geography Ranchi, P21
4. Buchanan Francis 1812 Bhagalpur Report 1810-1811 Calcutta oriental, Press Calcutta.
5. Chandra Satish 1977 National India Part I NCERT Delhi
6. Varan Dharma Manas of Goswami Tulsi Das .
7. Risley H.H 1930 Caste in India, P-121
8. Vyas Smriti, Chapt 1 Shlokas-11-12
9. Hutton J.H 1946, Castes in India Oxford University Press, Bombay
10. Dhurya G.S caste and Races in India 1999, P-324.